ग्रंथ-संख्या—१३६

प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती-भण्डार
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

प्रथम-संस्करण
सं० २००६ वि०
मूल्य ५)

मुद्रक—
महादेव एन० जोशी
लीडर प्रेस, इलाहाबाद
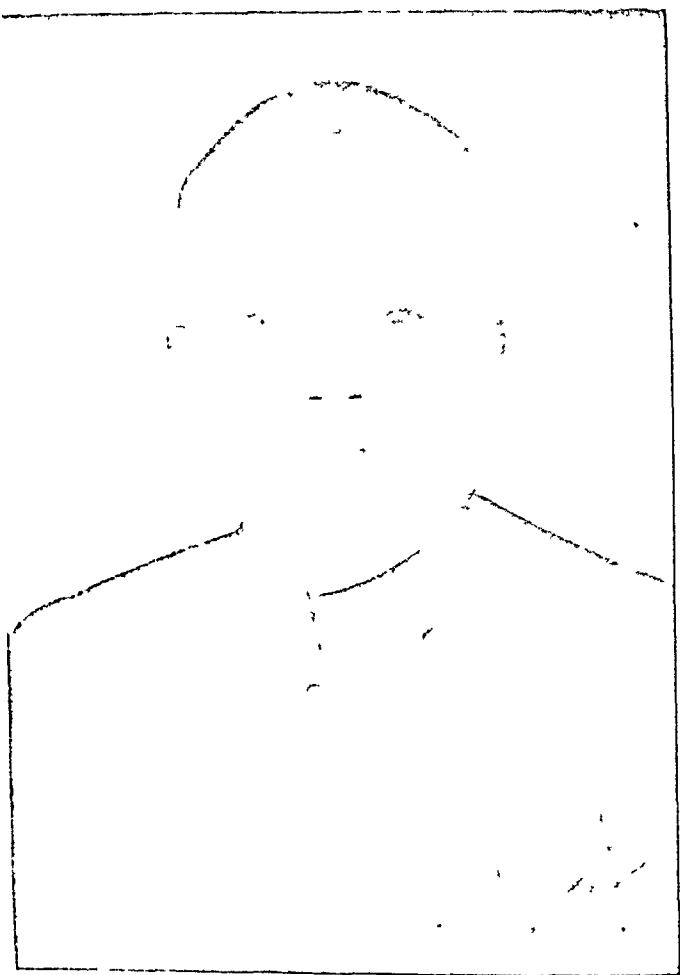
डॉ० अमरनाथ झा

आदरणीय,
डा० अमरनाथ झा के
कर कमलों में
सप्रेम

प्रस्तावना

'उत्तरा' के अंचल में भूमिका के रूप में इन थोड़े से शब्दों को बांध देना आवश्यक हो गया है, क्योंकि इधर 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' को लेकर मेरी काव्य-चेतना के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की भ्रांतियों का प्रचार हुआ है। इस प्रस्तावना का उद्देश्य उन तर्कों या उच्छ्‌वासों का निराकरण करना नहीं, केवल पाठकों के सामने, कम से कम शब्दों में, अपना दृष्टिकोण भर उपस्थित कर देना है। वैसे, मेरा विचार अगले काव्य संकलन में 'युगांत' के बाद की अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में विस्तृत आलोचनात्मक निबंध लिखने का है, पर वह कल की बात है।

मेरी इधर की रचनाओं का मुख्य ध्येय केवल उस युग-चेतना को, अपने यत्किंचित् प्रयत्नों द्वारा, वाणी देने का रहा है जो हमारे संक्रांति-काल की देन है और जिसने, एक युगजीवी की तरह, मुझे भी अपने क्षेत्र में प्रभावित किया है। इस प्रकार के प्रयत्न मेरी कृतियों में 'ज्योत्स्ना' काल से प्रारम्भ हो गए थे; 'ज्योत्स्ना' की स्वप्न-क्रांत चांदनी (चेतना) ही एक प्रकार से 'स्वर्णकिरण' में युग-प्रभात के आलोक से स्वर्णिम हो गई है।

> 'वह स्वर्ण भोर को ठहरी जग के ज्योतित आंगन पर
> तापसी विश्व की बाला पाने नव जीवन का वर !—

'चांदनी' को संबोधित 'ज्योत्स्ना'-'गुंजन' काल की इन पंक्तियों में पाठकों को मेरे उपर्युक्त कथन की प्रतिध्वनि मिलेगी। मुझे विश्वास है कि 'ज्योत्स्ना' के बाद की मेरी रचनाओं को तुलनात्मक दृष्टि से पढ़ने पर पाठक स्वयं भी इसी परिणाम पर पहुँचेंगे। बाहरी दृष्टि से उन्हें 'युगवाणी' तथा 'स्वर्णकिरण' काल की रचनाओं में शायद परस्पर-विरोधी विचार-धाराओं का समावेश मिले, पर वास्तव में ऐसा नहीं है।

'ज्योत्स्ना' में मैंने जीवन की जिन बहिरंतर मान्यताओं का समन्वय करने का प्रयत्न तथा नवीन सामाजिकता (मानवता) में उनके रूपांतरित होने की ओर इंगित किया है 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में उन्हीं के बहिर्मुखी (समतल) संचरण को (जो मार्क्सवाद का क्षेत्र है) तथा 'स्वर्णकिरण' में अंतर्मुखी (ऊर्ध्व) संचरण को (जो अध्यात्म का क्षेत्र है) अधिक प्रधानता दी है; किन्तु समन्वय तथा संश्लेषण का दृष्टिकोण एवं तज्जनित मान्यताएँ दोनों में समान रूप से वर्तमान हैं और दोनों कालों की रचनाओं से, इस प्रकार के अनेकों उद्धरण दिये जा सकते हैं। 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में यदि ऊर्ध्व मानों का सम धरातल पर समन्वय हुआ है तो 'स्वर्ण किरण' 'स्वर्ण धूलि' में समतल मानों का ऊर्ध्व धरातल पर; जो तत्त्वतः एक ही लक्ष्य की ओर निर्देश करते हैं। किंतु किसी लेखक की कृतियों में विचार साम्य के बदले उसके मानसिक विकास की दिशा को ही अधिक महत्व देना चाहिए, क्योंकि लेखक एक सजीव अस्तित्व या चेतना है और वह भिन्न भिन्न समय पर अपने युग के स्पर्शों तथा संवेदनों से किस प्रकार आंदोलित होता है, उन्हें किस रूप में ग्रहण तथा प्रदान करता है, इसका निर्णय ही उसके व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने में अधिक उपयोगी सिद्ध होना चाहिए।

हमारे कतिपय प्रगतिशील विचारक प्रगतिवाद को वर्गयुद्ध की भावनाओं से संबद्ध साहित्य तक ही सीमित रखना चाहते हैं, उन्हें इस युग की अन्य सभी प्रकार की प्रगति की धाराएँ प्रतिक्रियात्मक, पलायनवादी, सुधार-जागरण वादी तथा युगचेतना से पीड़ित दिखाई देती हैं। ये आलोचक अपने सांस्कृतिक विश्वासों में मार्क्सवादी ही नहीं अपने राजनीतिक विचारों में कम्यूनिस्ट भी हैं। मैं मार्क्सवाद की उपयोगिता एक व्यापक समतल सिद्धांत की तरह स्वीकार कर चुका हूँ। किन्तु सांस्कृतिक दृष्टिकोण से उसके रक्त क्रांति और वर्गयुद्ध के पक्ष को मार्क्स के युग की सीमाएँ मानता हूँ, जिसकी ओर मैं 'आधुनिक कवि', की भूमिका में इंगित कर चुका हूँ। अपने प्रगतिशील सहयोगियों की इधर की आलोचनाओं को पढ़ने से प्रतीत होता है कि वे मेरी रचनाओं से अधिक मेरे समर्थकों की विवेचनाओं तथा व्याख्याओं से क्षुब्ध हैं और उनके लिखने के ढंग से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वे कभी व्यक्तिगत आक्षेप, तुलनात्मक

स्पर्धा तथा साहित्यिक विद्वेष से मुक्त नहीं हो सके हैं, जो अवश्य ही चिन्त्य तथा अवांछनीय है।

अपने युग को मैं राजनीतिक दृष्टि से जन-तंत्र का युग और सांस्कृतिक दृष्टि से विश्व-मानवता अथवा लोक मानवता का युग मानता हूँ; और वर्ग युद्ध को इस युग के विराट् संघर्ष का एक राजनीतिक चरण मात्र। राजनीति के क्षेत्र के किसी भी प्रगतिकामी वाद या सिद्धान्त से मुझे विरोध नहीं है; एक तो राजनीति के नक्कारख़ाने में साहित्य की तूती की आवाज़ कोई मूल्य नहीं रखती, दूसरे, इन सभी वादों को मैं युग-जीवन के विकास के लिए किसी हद तक आवश्यक मानता हूँ; ये परस्पर संघर्ष-निरत तथा शक्ति-लोलुप होने पर भी इस युग के अभावों को किसी न किसी रूप में अभिव्यक्त करते हैं, अपनी सीमाओं के भीतर उनका उपचार भी खोजते हैं, और वहिरंतर के दैन्य से पीड़ित, पिछले युगों की अस्थि कंकाल रूप धरोहर, जनता के हित को सामने रखकर सुखभोगकामी मध्योच्चवर्गीय चेतना का ध्यान उस ओर आकृष्ट करते हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से इनकी सीमाओं से अवगत तथा साधनों से असंतुष्ट होने पर भी मैं अपने युग की दुर्निवार तथा मानव मन की दयनीय दुर्बोध सीमाओं से परिचित एवं पीड़ित हूँ

मेरा दृढ़ विश्वास है कि केवल राजनीतिक आर्थिक हलचलों की बाह्य सफलताओं द्वारा ही मानव जाति के भाग्य (भावी) का निर्माण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के सभी आंदोलनों को परिपूर्णता प्रदान करने के लिए, संसार में, एक व्यापक सांस्कृतिक आंदोलन को जन्म लेना होगा जो मानव चेतना के राजनीतिक-आर्थिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक—संपूर्ण धरातलों में मानवीय संतुलन तथा सामंजस्य स्थापित कर आज के जनवाद को विकसित मानववाद का स्वरूप दे सकेगा; भविष्य में मनुष्य के आध्यात्मिक (इस युग की दृष्टि से बौद्धिक, नैतिक) तथा राजनीतिक संचरण—प्रचलित शब्दों में धर्म, अर्थ, काम—अधिक समन्वित हो जाएँगे और उनके बीच का व्यवधान मिट जाएगा—अथवा राजनीतिक आंदोलन सांस्कृतिक आंदोलनों में बदल जाएँगे, जिसका पूर्वाभास हमें, इस युग की सीमाओं के भीतर, महात्मा जी के व्यक्तित्व में मिलता है।

इस दृष्टि से मैं युग की प्रगति की धाराओं का क्षेत्र, वर्ग-युद्ध में भी मानते हुए (यद्यपि अपने देश के लिए उसे अनावश्यक तथा हानिकर समझता हूँ), उससे कहीं अधिक विस्तृत तथा ऊर्ध्व मानता हूँ और सुधार-जागरण के प्रयत्नों को भी अपने-अपने स्थान पर आवश्यक समझता हूँ; क्योंकि जिस संचरण का बाहरी रूप क्रांति है उसी का भीतरी रूप विकास। अतएव युगपुरुष को पूर्णतः सचेष्ट करने के लिए यदि लोक-संगठन के साथ गांधीवाद को पीठिका बनाकर मनः संगठन (संस्कार) का भी अनुष्ठान उठाया जाय और मनुष्य की सामाजिक चेतना (संस्कृति) का विकसित विश्व-परिस्थितियों (वाष्प विद्युत् आदि) के अनुरूप नवीन रूप से सक्रिय समन्वय कियां जाय तो वर्तमान के विक्षोभ के आर्त्तनाद तथा क्रांति की क्रुद्ध ललकार को लोक-जीवन के संगीत तथा मनुष्यता की पुकार में बदला जा सकता है; एवं क्रांति के भीतरी पक्ष को भी सचेष्ट कर उसे परिपूर्ण बनाया जा सकता है। इस युग के क्रांति विकास, सुधार जागरण के आंदोलनों की परिणति एक नवीन सांस्कृतिक चेतना के रूप में होना अवश्यम्भावी है,जो मनुष्य के पदार्थ, जीवन, मन के संपूर्ण स्तरों का रूपांतर कर देगी तथा विश्व जीवन के प्रति उसकी धारणा को बदलकर सामाजिक सम्बन्धों को नवीन अर्थ-गौरव प्रदान कर देगी। इसी सांस्कृतिक चेतना को मैं अंतर्चेतना या नवीन सगुण कहता हूँ। मैं जनवाद को राजनीतिक संस्था या तंत्र के बाह्य रूप में ही न देखकर भीतरी, प्रजात्मक मानव चेतना के रूप में भी देखता हूँ, और जनतंत्रवाद की आंतरिक (आध्यात्मिक) परिणति को ही 'अंतर्चेतनावाद' अथवा 'नव मानववाद' कहता हूँ,—जिस अर्थ में मैंने अपनी इधर की रचनाओं में इनका प्रयोग किया है। दूसरे शब्दों में, जिस विकासकामी चेतना को हम संघर्ष के समतल धरातल पर प्रजातंत्रवाद के नाम से पुकारते हैं उसी को ऊर्ध्व सांस्कृतिक धरातल पर मैं अंतर्चेतना एवं अंतर्जीवन कहता हूँ। इस युग में जड़ (परिस्थितियां, यंत्र तथा तत्सम्बन्धी राजनीतिक आर्थिक आंदोलन) तथा चेतन (नवीन आदर्श, नैतिक दृष्टिकोण तथा तत्संबंधी मान्यताएँ आदि) का संघर्ष इसी अंतर्चेतना या भावी मनुष्यत्व के पदार्थ के रूप में सामंजस्य ग्रहण कर उन्नयन को प्राप्त हो सकेगा। अतः मैं वर्गहीन सामाजिक विधान के साथ ही मानव-अहंता के विधान को भी नवीन चेतना के रूप में परिणति

संभव समझता हूँ और युग-संघर्ष में जन-संघर्ष के अतिरिक्त अंतर्मानव का संघर्ष भी देखता हूँ।

इस प्रकार मैं युग संघर्ष का एक सांस्कृतिक पक्ष भी मानता हूँ जो जन-युग की धरती से ऊपर उठकर उसकी ऊपरी मानवता की चोटी को भी अपने फड़कते हुए पंख से स्पर्श करता है; क्योंकि जो युग-विप्लव मानव जीवन के आर्थिक राजनीतिक धरातलों में महान् क्रांतिकारी परिवर्तन ला रहा है, वह उसकी मानसिक, आध्यात्मिक आस्थाओं में भी आंतरिक विकास तथा रूपांतर उपस्थित करने जा रहा है; और जैसा कि मैं 'युगवाणी' की भूमिका में लिख चुका हूँ, "भविष्य में जब मानव-जीवन विद्युत् तथा अणु-शक्ति की प्रबल टांगों पर प्रलय-वेग से आगे बढ़ने लगेगा तब आज के मनुष्य की टिमटिमाती हुई चेतना उसका संचालन करने में समर्थ नहीं हो सकेगी...बाह्य जीवन के साथ ही उसकी अंतर्चेतना में भी युगांतर होना अवश्यंभावी है!"—इसी नवीन चेतना की मनः क्रीड़ा, उसके आनन्द और सौन्दर्य, उसकी आशा-विश्वासप्रद प्रेरणाओं के उद्बोधन गान मेरी इधर की रचनाओं के विषय हैं, जो जन-युग के संघर्ष में मानव-युग के उद्भव की स्वप्न सूचनाएँ भर हैं। ऐसा कह कर मैं किसी प्रकार की आत्मश्लाघा को प्रश्रय नहीं दे रहा हूँ। 'उत्तरा' के किसी गीत में मैंने—

"मैं रे केवल उन्मन मधुकर भरता शोभा स्वप्निल गुंजन,
आगे आएँगे तरुण भृंग स्वर्णिम मधुकण करने वितरण।"—

किसी विनम्रतावश नहीं, अपनी तथा अपने युग की सीमाओं के कटु अनुभव तथा नवीन चेतना की लोकोत्तरता पर विश्वास के कारण ही लिखा है।

मेरा मन यह नहीं स्वीकार करता कि मैं ने अपनी रचनाओं में जिस सांस्कृतिक चेतना को वाणी दी है, एवं जिस मनः संगठन की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, उसे किसी भी दृष्टि से प्रतिगामी कहा जा सकता है। मैंने सदैव ही उन आदर्शों, नीतियों तथा दृष्टिकोणों का विरोध किया है जो पिछले युगों की संकीर्ण परिस्थितियों के प्रतीक हैं, जिनमें मनुष्य विभिन्न जातियों, संप्रदायों तथा वर्गों में विकीर्ण हो गया है। उन सभी विश्लिष्ट सांस्कृतिक मान्यताओं

के विरुद्ध मैंने युग की कोकिल से पावक कण बरसाने को कहा है जिनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि अब खिसक गई है और जो मानव चेतना को अपनी खोखली भित्तियों में विभक्त की हुई हैं। मेरा विनम्र विश्वास है कि लोक संगठन तथा मनः संगठन एक दूसरे के पूरक हैं, क्योंकि वे एक ही युग (लोक) चेतना के बाहरी और भीतरी रूप हैं।

मुझे ज्ञात है कि सभी प्रकार के सुधार जागरण के प्रयत्न क्रांति के प्रतिरोधी माने जाते हैं; पर ये इस युग के वादों तथा तर्कों की सीमाएँ हैं, जिनका दार्शनिक विवेचन अथवा विश्लेषण करना इस छोटी सी भूमिका के क्षेत्र से बाहर ही का विषय नहीं, वह व्यर्थ का प्रयास भी होगा। जिनका मस्तिष्क वादों से आक्रांत नहीं हो गया है, वे सहज ही अनुभव कर सकेंगे कि जन संघर्ष (राजनीतिक धरातल) में जो युग जीवन का सत्य द्वंद्वों के उत्थान पतन में अभिव्यक्ति पाकर आगे बढ़ रहा है वह मनुष्य की चेतना (मानसिक सांस्कृतिक धरातलों) में एक विकसित मनुष्यत्व के रूप में संतुलन ग्रहण करने की भी प्रतीक्षा तथा चेष्टा कर रहा है। जो विवेचक सभी प्रकार के मनः संगठन तथा सांस्कृतिक प्रयत्नों को प्रतिक्रियात्मक तथा पलायनवादी कह कर उनका विरोध करते हैं उनकी भावना युग प्रबुद्ध होने पर भी विचारधारा वादों से पीड़ित तथा बुद्धि भ्रम से ग्रस्त है।

अपने लोकप्रेमी मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी युवकों को ध्यान में रखते हुए, जो उच्च आदर्शों से अनुप्राणित तथा महान् त्याग करने में समर्थ हैं, मैं इसे केवल अपने युग-मन की कमी अथवा सीमा कहूँगा। हमारा युग-मन परिस्थितियों के प्रति जाग्रत् तथा पर्याप्त लक्ष्य-बोध होने पर भी अनुभूति की दृष्टि से अभी अपरिपक्व है, और इसके अनेक कारण हैं। हम अभी यंत्र का मानवीकरण नहीं कर सके हैं, उसे मानवीय अथवा मानव का वाहन नहीं बना सके हैं; बल्कि वह अभी हम पर आधिपत्य किए हुए है। यंत्र-युग ने हमें जो शक्ति तथा वैभव प्रदान किया है, वह हमारे लोभ तथा स्पर्धा की वस्तु बनकर रह गया है; उसने जहाँ मानव-श्रम के मूल्य को अतिरिक्त लाभ में परिणतकर शोषक शोषितों के बीच बढ़ती हुई खाई को रक्त-पंकिल विक्षोभ तथा असंतोष से भर दिया है, वहाँ हमारे भोग विलास तथा अधिकारलालसा के स्तरों

को उकसा कर हमें अविनीत भी बना दिया है; किन्तु वह हमारे ऊपरी धरातलों तथा सांस्कृतिक चेतना को छू कर मानवीय गौरव से मंडित नहीं हो सका है,— दूसरे शब्दों में, यंत्र-युग का मनुष्य की चेतना में अभी सांस्कृतिक परिपाक नहीं हुआ है।

जिस प्रकार हमारे मध्ययुगीन विचारकों ने आत्मवाद से प्रकाश-अंध होकर मानव चेतना के भौतिक (वास्तविक) धरातल को माया, मिथ्या कह कर भुला देना चाहा (जिसका कारण मैं 'युगवाणी' की भूमिका में दे चुका हूँ) उसी प्रकार आधुनिक विज्ञान दर्शनवादी—यद्यपि आधुनिकतम भूतविज्ञान पदार्थ के स्तर को अतिक्रमण कर चुका है तथा आधुनिकतम मनोविज्ञान, जिसे विद्वान अभी शैशवावस्था ही में मानते हैं, चेतन मन तथा हेतुवाद (रैशनलिज्म) से अधिक प्रधानता उपचेतन अवचेतन के सिद्धांतों को देने लगा है—और विशेषकर मार्क्सवादी भौतिकता के अंधकार में और कुछ भी न सूझने के कारण मन (गुण) तथा संस्कृति (सामूहिक अंतर्चेतना) आदि को पदार्थ का बिम्ब रूप, गौण स्तर या ऊपरी अति विधान कह कर उड़ा देना चाहते हैं; जो मान्यताओं की दृष्टि से, ऊर्ध्व तथा समतल दृष्टिकोणों में सामंजस्य स्थापित न कर सकने के कारण उत्पन्न भ्रान्ति है। किन्तु मात्र अधिदर्शन (मेटाफिजिक्स) के सिद्धांतों द्वारा जड़ चेतन (मैटर स्पिरिट) की गुत्थी को सुलझाना इतना दुरूह है कि युग-मन के अनुभव के अतिरिक्त इसका समाधान सामान्य बुद्धिजीवी के लिए संभव नहीं। अतएव साहित्य के क्षेत्र में 'मान्यताओं की दृष्टि से हम मार्क्सवाद या अध्यात्मवाद की दुहाई देकर आज जिन हास्यप्रद तर्कों में उलझ रहे हैं उससे अच्छा यह होगा कि हम एक दूसरे के दृष्टिकोणों का आदर करते हुए दोनों की सच्चाई स्वीकार कर लें। वास्तव में चाहे चेतना को पदार्थ (अन्न) का सर्वोच्च या भीतरी स्तर माना जाय चाहे पदार्थ को चेतना का निम्नतम या बाहरी धरातल दोनों ही मानव जीवन में अविच्छिन्न रूप से, वागर्थाविव, जुड़े हुए हैं। जिस प्रकार पदार्थ का संचरण परिस्थितियों के सत्य या गुणों में अभिव्यक्त होता है उसी प्रकार चेतना का संचरण मन के गुणों में; लोक जीवन के विकास के लिए दोनों ही में सामंजस्य स्थापित करना नितांत आवश्यक है। पदार्थ, जीवन, मन तथा आत्मा की मान्यताएँ हमारी बुद्धि के विभाजन भर हैं; संपूर्ण सत्य इन से परे

तथा इनमें भी व्याप्त होने के कारण एक तथा अखंडनीय हैं। सभ्यता के विकास क्रम में जब मनुष्य का मन एवं चेतना इतनी अधिक विकसित हो चुकी है और विभिन्न युगों में अंतर्मन की मान्यताएँ भी (धर्म, अध्यात्म,ईश्वर सम्बन्धी) स्वीकृत हो कर लोक कल्याण के लिए उपयोगी प्रमाणित हो चुकी हैं, तब आज उन सबका बहिष्कार कर केवल मांस पेशियों के संगठित बल पर मानव जीवन के रथ या महायान को आगे बढ़ाने का दुःसाहस मेरी दृष्टि में केवल इस युग के दुर्दांत विक्षोभ का अंध विद्रोह ही है।

मैं केवल आदर्शवाद का ही पक्ष नहीं ले रहा हूँ, वस्तुवादियों के दृष्टिकोण की भी उपयोगिता स्वीकार करता हूँ। वास्तव में आदर्शवाद, वस्तुवाद, जड़-चेतन, पूर्व-पश्चिम आदि शब्द उस युग-चेतना के प्रतीक अथवा उस सभ्यता के विरोधाभास हैं जिसका संचरण वृत्त अब समाप्त होने को है। आदर्शवाद द्रष्टा या ज्ञाता का दृष्टिबिन्दु है, जो आदर्श को प्रधान तथा सत्य मानता है और वास्तविकता या यथार्थ को उसका बिम्ब रूप, जिसे आदर्श की ओर अग्रसर या विकसित होना है। यह स्पष्ट ही है कि यथार्थ की गतिविधि या विकास के पथ को निर्धारित करने के लिए आदर्श का बोध या ज्ञान प्राप्त करना अत्यावश्यक है। तथोक्त वस्तुवाद कर्ता या कर्मी का दृष्टिकोण है जिसके लिए गोचर वस्तु ही यथार्थ तथा प्रधान है, आदर्श उसी का विकास या परिणति। वस्तु से उसका विधायक या निर्माता का सम्बन्ध होने के कारण वह उसकी यथार्थता को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने देता एवं उसी को सत्य मानता है। किंतु यदि हम आदर्श तथा वस्तु को एक ही सत्य का, जो अव्यक्त तथा विकासशील होने के कारण दोनों से अतिशय तथा ऊपर भी है,—सूक्ष्म स्थूल रूप या बिम्ब प्रतिबिम्ब मान लें तो दोनों दृष्टिकोणों में सहज ही सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है; और आदर्श तथा वस्तुवादी, अपनी-अपनी उपयोगिता तथा सीमाओं को मानते हुए, विश्व कर्म में परस्पर सहायक की तरह हाथ बँटा सकते हैं। विनय, आत्मत्याग, सच्चाई, सहानुभूति, अहिंसा आदि व्यावहारिक आदर्शों को अपनाकर—जो मनुष्यत्व की परिचायक, सनातन सामाजिक विभूतियां हैं—दोनों शिविरों का संयुक्त कर्म भूनिर्माण के कार्य को अधिक परिपूर्ण रूप से आगे बढ़ा सकता है।

वास्तव में हमारी कठिनाइयों का कारण है हमारी एकांगी शिक्षा तथा सदियों की राजनीतिक पराधीनता के कारण पश्चिमी विचार दर्शन तथा साहित्य की दासता। साधारणतः हमारा बुद्धिजीवी युवक—जो विदेशी सभ्यता या संस्कृति से बाहर ही बाहर प्रभावित है और अपने देश के विराट् ज्ञान-भंडार से प्रायः अपरिचित—यह समझता है कि भारतवर्ष की समस्त आध्यात्मिकता तथा दर्शन पिछली सामंती परिस्थितियों का प्रकाश (संगठित ज्ञान) मात्र है, जिसकी इस युग में कोई उपयोगिता नहीं रह गई है। वह सोचता है कि इस युग के विज्ञान-दर्शन तथा मनोविज्ञान ने जीवन के प्रति मानव के दृष्टिकोण को ऐसा आमूल परिवर्तित कर दिया है कि हमारी विकसित परिस्थितियों से उद्‌भूत चेतना ही मानव जीवन का नवीन दर्शन बन सकती है और आध्यात्मिकता का मोह केवल हमारा अतीत का गौरव-गान है। किन्तु इसमें तथ्य इतना ही है कि पदार्थ विज्ञान द्वारा हमने केवल चेतना के निम्नतम भौतिक धरातल पर ही प्रकाश डाला है और उसके फलस्वरूप अपनी भौतिक परिस्थितियों को वाष्प विद्युत् आदि का संजीवन पिला कर अधिक सक्रिय बना दिया है; जिनमें नवीन रूप से सामंजस्य स्थापित करने के लिए इस युग के राजनीतिक आर्थिक आंदोलनों का प्रादुर्भाव हुआ है; किन्तु परिस्थितियों की सक्रियता के अनुपात में हमारे मन तथा चेतना के सापेक्ष स्तर प्रबुद्ध तथा अंतःसंगठित न हो सकने के कारण युग के राजनीतिक आर्थिक-संघर्ष मानव सभ्यता को अभ्युदय की ओर ले जाने के बदले, विश्व युद्धों का रूप धारण कर, भूव्यापी रक्तपात तथा विनाश ही की ओर अग्रसर करने में सफल हो सके हैं; और संहार के बाद निर्माण के क्षण आशाप्रद सिद्धान्त को भी अब एटमबम के भयानक आविर्भाव ने जैसे एक बार ही धराशायी कर दिया है।

आधुनिक मनोविज्ञान मनुष्य के विचारों के मन को नहीं छू सका है। उसने केवल हमारे भावनाओं के मन में हलचल भर पैदा की है। पिछली दुनिया की नैतिकता अभी मनुष्य के मोहग्रस्त चरणों में उसी प्रकार चांदी के भारी भद्दे संकीर्ण कड़े की तरह पड़ी हुई है, जिससे मानव चेतना का सौंदर्यबोध तथा उसकी राग भावना की गति पग पग पर कुंठित होकर, स्त्रियों के अधिकार आंदोलनों के रूप में, आगे बढ़ने का निष्फल प्रयत्न कर रही है। किन्तु मानव

चेतना की नैतिक लँगड़ाहट को दूर करना शायद कल का काम है; उससे पहिले मानव जाति के दृष्टिकोण का व्यापक आध्यात्मिक रूपांतर हो जाना अत्यन्त आवश्यक है । अतः अध्यात्मवाद का स्थान मानव के अंतरतम शुभ्र शिखरों पर सदैव के लिए वैसा ही अक्षुण्ण बना हुआ है और रहेगा जैसा कि वह शायद पहले भी नहीं था ।

भारतीय दर्शन भी आधुनिकतम भौतिक दर्शन (मार्क्सवाद) की तरह सत्य के प्रति एक उपनयन (एप्रोच) मात्र है, किन्तु अधिक परिपूर्ण; क्योंकि वह पदार्थ, प्राण (जीवन), मन तथा चेतना (स्पिरिट) रूपी मानव-सत्य के समस्त धरातलों का विश्लेषण तथा संश्लेषण कर सकने के कारण उपनिषत् (पूर्ण एप्रोच) बन गया है । दुर्भाग्यवश हमारे तरुण बुद्धिजीवी अध्यात्मवाद को बादलों के ऊपर का कोई सत्याभास मानते हैं और उसे हमारे प्रतिदिन के जीवन के एक सूक्ष्म किन्तु सक्रिय सत्य के रूप में नहीं देखते । जिस प्रकार पदार्थ का एक भौतिक तथा मानसिक स्तर है उसी प्रकार उसका एक आध्यात्मिक स्तर भी ।

पदार्थ तथा चेतना के धरातलों पर व्यर्थ न बिलम (रुक) कर हमारे युग को—और ऐसे युग सभ्यता के इतिहास में सहस्रों वर्षों बाद आते हैं—वैयक्तिक सामूहिक आवश्यकताओं के अनुरूप इन दोनों मौलिक संचरणों में नवीन सामंजस्य स्थापित कर, एवं जीवन के शतदल को मानस जल के ऊपर नवीन सौंदर्यबोध में प्रतिष्ठित कर, उसमें पदार्थ की पंखड़ियों का संतुलित प्रसार तथा चेतना की किरणों का सतरंग ऐश्वर्य (विकास) भरना ही होगा । जीवन निर्माण के आवेश में बह जाने के कारण तथा भौतिक दर्शन के अपर्याप्त दृष्टिकोण के कारण, इस युग के साहित्य में और भी अनेक प्रकार की भ्रांतियों का प्रचार हो रहा है । यदि पुरानी दुनिया (मध्य युग) अति वैयक्तिकता के पक्षपात से पीड़ित थी तो नई दुनिया अति सामाजिकता के दलदल में फँसने जा रही है; जिसका दुष्परिणाम यह होगा कि कालांतर में मनुष्य की सुख-शांति एक किमाकार यांत्रिक तंत्र के दुःसह बहिर्भूत भार से दब जाएगी और वैयक्तिक अंतः संचरण का दम घुटने लगेगा । हमें व्यावहारिक दृष्टि से भी व्यक्ति तथा समाज को दो स्वतंत्र अन्योन्याश्रित सिद्धांतों की तरह स्वीकार करना ही होगा तथा मनुष्य की

बहिरंतर्मुखी प्रवृत्तियों के विकास और सामंजस्य के आधार पर ही विश्वतंत्र को प्रतिष्ठित करना होगा। दोनों संचरणों की मान्यताओं को स्वीकार न करना अशांति को जन्म देना होगा। इसमें संदेह नहीं कि सभ्यता के विकासक्रम में जब हमारा मनुष्यत्व निखर उठेगा एवं जठर का संघर्ष उत्पादन-वितरण के संतुलन में निःशेष या समाप्तप्राय हो जाएगा, मनुष्य का वहिर्जीवन उसके अंतर्जीवन के अधीन हो जाएगा; क्योंकि मनुष्य के अंतर्जीवन तथा वहिर्जीवन के सौन्दर्य में इतना प्रकारांतर है जितना सुन्दर मांस की देह तथा मिट्टी की निर्जीव प्रतिमा में !—किन्तु यह कल का स्वप्न है।

तथोक्त गहन मनोविज्ञान-संबंधी निरुद्ध भावना, काम ग्रंथि आदि के परिज्ञान ने हमारी उदात्त भावना, आत्म-निग्रह आदि की धारणाओं के अर्थ का अनर्थ कर दिया है। उन्नयन का अर्थ दमन या स्तंभन, संयम का आत्मपीड़न या निषेध तथा आदर्श का अर्थ पलायन हो गया है। उपचेतन अवचेतन के निम्न स्तरों को इतनी प्रधानता मिल गई है कि अव्यक्त या प्रच्छन्न (सबलिमिनल) मन के उच्च स्तरों के ज्ञान से हमारा तरुण बुद्धिजीवी अपरिचित ही रह गया है; भारतीय मनोविश्लेषक इड, लिबिडो तथा प्राण चेतना सत्ता (फ्रॉयडियन स.इकी) के चित्र-आवरण को चीरकर गहन शुभ्र जिज्ञासा करता है,— 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ?' किन्तु हमारे निष्प्राण प्रेरणा शून्य साहित्य में उपचेतन की मध्यवर्गीय रुग्ण प्रवृत्तियों का चित्रण ही आज सृजन कौशल की कसौटी बन गया है और वे परस्पर के अहंकार-प्रदर्शन, लांछन, तथा घात प्रतिघात का क्षेत्र बन गई हैं, जिससे हम कुंठित बुद्धि के साथ संकीर्णहृदय भी होते जा रहे हैं।

इस प्रकार की अनेक भ्रांतियों तथा मिथ्या धारणाओं से आज हमारी सृजन-चेतना पीड़ित है और प्रगतिशील साहित्य का स्तर संकुचित होकर प्रतिदिन नीचे गिरता जा रहा है। हम पश्चिम की विचारधारा से इतने अधिक प्रभावित हैं कि अपनी ओर मुड़कर अपने देश का प्रशांत गंभीर, प्रसन्न मुख देखना ही नहीं चाहते। हममें अपनी भूमि के विशिष्ट मानवीय पदार्थ को समझने की क्षमता ही नहीं रह गई है। हम इस सदियों के खंडहर का बाहरी दयनीय रूप देख कर क्षुब्ध तथा विरक्त हो जाते हैं और दूसरों का बाहर से सँवारा हुआ मुख देख

कर उनका अनुकरण करने लगते हैं। मैं जानता हूँ कि यह हमारी दीर्घ पराधीनता का दुष्परिणाम है, किन्तु एक बार संयुक्त प्रयत्न कर हमें इससे ऊपर उठना होगा और अपने देश की युग-युग के अनुभव से गंभीर परिपक्व आत्मा को, उसके अंतः सौन्दर्य से तपोज्वल शांत सुन्दर मुख को पहचान कर अपने अंतःकरण को उसकी गरिमा का उपयुक्त दर्पण बनाना होगा। तभी हम अन्य देशों से भी आदान-प्रदान करने योग्य हो सकेंगे, उनके प्रभावों तथा जीवन-अनुभूतियों को यथोचित रूप से ग्रहण करने एवं अपने संचय को उन्हें देने के अधिकारी बन सकेंगे, और इस प्रकार विश्व-निर्माण में जाग्रत सक्रिय भाग ले सकेंगे।

मुझे ज्ञात है कि मध्य युगों से हमारे देश के मन में अनेक प्रकार की विकृतियां, संकीर्णताएँ तथा दुर्बलताएँ घर कर गई हैं, जिनके कुछ तो राजनीतिक कारण हैं, कुछ हमारी सामंती संस्कृति के बाहरी ढांचे की अवश्यम्भावी सीमाएँ और कुछ उत्थान के बाद पतन वाला जीवन की विकासशील परिस्थितियों पर प्रयुक्त सिद्धांत। प्रायः उन सभी मर्म-व्याधियों एव स्थलों पर इस युग के हमारे बड़े बड़े विचारक, साहित्यिक तथा सर्वाधिक महात्माजी, अपने महान् व्यक्तित्व का प्रकाश डाल चुके हैं। किन्तु बाहर की इस काई को हटा लेने के बाद भारत के अंतश्चेतन मानस में जो कुछ शेष रहता है, उसके जोड़ का आज के संसार में कुछ भी देखने को नहीं मिलता; और यह मेरा अतीत का गौरव-गान नहीं, भारत के अपराजित व्यक्तित्व के प्रति विनम्र श्रद्धांजलि मात्र है।

हम आज विश्व-तंत्र, विश्व-जीवन, विश्व-मन के रूप में सोचते हैं। पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि विश्व-योजना में विभिन्न देशों का अपना मौलिक व्यक्तित्व नहीं रहेगा। एकता का सिद्धांत अंतर्मन का सिद्धान्त है, विविधता का सिद्धान्त बहिर्मन तथा जीवन के स्तर का; दूसरे शब्दों में एकता का दृष्टिकोण ऊर्ध्व दृष्टिकोण है और विभिन्नता का समदिक्। विविध तथा अविभक्त होना जीवन-सत्य का सहज अंतर्जात गुण है, इस दृष्टि से भी ऐसे किसी विश्व-जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती जिसमें ऐक्य और वैचित्र्य संयोजित न हों। इसलिए देश-प्रेम अंतर्राष्ट्रीयता या विश्व-प्रेम का विरोधी न होकर उसका पूरक ही है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए मैं सोचता हूँ कि भारत पर

भावी विश्व-निर्माण का कितना बड़ा उत्तरदायित्व है। और आज की विनाश की ओर अग्रसर विश्व-सभ्यता को अंतःस्पर्शी मनुष्यत्व का अमरत्व प्रदान करने के लिए हमारे मनीषियों, बुद्धिजीवियों तथा लोकनायकों को कितना अधिक प्रबुद्ध, उदार-चेता तथा आत्म-संयुक्त बनने की आवश्यकता है।

हमारी गौतम और गांधी की ऐतिहासिक भूमि है। भारत का दान विश्व को राजनीतिक तंत्र या वैज्ञानिक यंत्र का दान नहीं हो सकता; वह संस्कृति तथा विकसित मनोयंत्र की ही भेंट होगी। इस युग के महापुरुष गांधी जी भी अहिंसा को एक व्यापक सांस्कृतिक प्रतीक के ही रूप में दे गए हैं, जिसे हम मानव चेतना का नवनीत, अथवा विश्व-मानवता का एकमात्र सार कह सकते हैं। महात्माजी अपने व्यक्तित्व से राजनीति के संघर्ष कंटक-पुलकित कलेवर को संस्कृति का लिबास पहनाकर भारतीय बना गए हैं। उनका दान हम भुला भी दें, किन्तु संसार नहीं भुला सकेगा; क्योंकि अणु-मृत मानव-जाति के पास अहिंसा ही एकमात्र जीवन-अवलम्ब तथा संजीवन है।

सत्य-अहिंसा के सिद्धांतों को मैं अंतःसंगठन (संस्कृति) के दो अनिवार्य उपादान मानता हूँ। अहिंसा मानवीय सत्य का ही सक्रिय गुण है। अहिंसात्मक होना व्यापक अर्थ में संस्कृत होना, मानव बनना है। सत्य का दृष्टिकोण मान्यताओं का दृष्टिकोण है, और ये मान्यताएँ दो प्रकार की हैं। एक ऊर्ध्व अथवा आध्यात्मिक, और दूसरी समदिक्, जो हमारे नैतिक, सामाजिक आदर्शों के रूप में विकास-क्रम में उपलब्ध होती हैं। ऊर्ध्व मान्यताएँ उस अंतस्थ सूत्र की तरह हैं जो हमारे बहिर्गत आदर्शों को सामंजस्य के हार में पिरो कर हृदय में धारण करने योग्य बना देती हैं।

मैं जानता हूँ कि स्वाधीनता मिलने के बाद हम बुद्धिजीवियों को जिन सृजनात्मक तथा सांस्कृतिक शक्तियों के प्रादुर्भाव होने तथा उनके विकास के लिए प्रशस्त क्षेत्र मिलने की आशा थी, वैसा नहीं हो सका है। गांधीवाद का सांस्कृतिक चरण अभी पंगु तथा निष्क्रिय ही पड़ा हुआ है। किन्तु हम सदियों की अव्यवस्था, दुरवस्था तथा परवशता से अभी अभी मुक्त हुए हैं। हमें अपने को नवीन रूप में पहचानने, नवीन परिस्थितियों में अपना उत्तरदायित्व समझने, और विश्व-क्रांति की गंभीरता को ठीक-ठीक आंकने में अभी समय लगेगा। मैं

कर उनका अनुकरण करने लगते हैं। मैं जानता हूँ कि यह हमारी दीर्घ पराधीनता का दुष्परिणाम है, किन्तु एक बार संयुक्त प्रयत्न कर हमें इससे ऊपर उठना होगा और अपने देश की युग-युग के अनुभव से गंभीर परिपक्व आत्मा को, उसके अंतः सौन्दर्य से तपोज्वल शांत सुन्दर मुख को पहचान कर अपने अंतःकरण को उसकी गरिमा का उपयुक्त दर्पण बनाना होगा। तभी हम अन्य देशों से भी आदान-प्रदान करने योग्य हो सकेंगे, उनके प्रभावों तथा जीवन-अनुभूतियों को यथोचित रूप से ग्रहण करने एवं अपने संचय को उन्हें देने के अधिकारी बन सकेंगे, और इस प्रकार विश्व-निर्माण में जाग्रत सक्रिय भाग ले सकेंगे।

मुझे ज्ञात है कि मध्य युगों से हमारे देश के मन में अनेक प्रकार की विकृतियां, संकीर्णताएँ तथा दुर्बलताएँ घर कर गई हैं, जिनके कुछ तो राजनीतिक कारण हैं, कुछ हमारी सामंती संस्कृति के बाहरी ढांचे की अवश्यम्भावी सीमाएँ और कुछ उत्थान के बाद पतन वाला जीवन की विकासशील परिस्थितियों पर प्रयुक्त सिद्धांत। प्रायः उन सभी मर्म-व्याधियों एव स्थलों पर इस युग के हमारे बड़े बड़े विचारक, साहित्यिक तथा सर्वाधिक महात्माजी, अपने महान् व्यक्तित्व का प्रकाश डाल चुके हैं। किन्तु बाहर की इस काई को हटा लेने के बाद भारत के अंतश्चेतन मानस में जो कुछ शेष रहता है, उसके जोड़ का आज के संसार में कुछ भी देखने को नहीं मिलता; और यह मेरा अतीत का गौरव-गान नहीं, भारत के अपराजित व्यक्तित्व के प्रति विनम्र श्रद्धांजलि मात्र है।

हम आज विश्व-तंत्र, विश्व-जीवन, विश्व-मन के रूप में सोचते हैं। पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि विश्व-योजना में विभिन्न देशों का अपना मौलिक व्यक्तित्व नहीं रहेगा। एकता का सिद्धांत अंतर्मन का सिद्धान्त है, विविधता का सिद्धान्त बहिर्मन तथा जीवन के स्तर का; दूसरे शब्दों में एकता का दृष्टिकोण ऊर्ध्व दृष्टिकोण है और विभिन्नता का समदिक्। विविध तथा अविभक्त होना जीवन-सत्य का सहज अंतर्जात गुण है, इस दृष्टि से भी ऐसे किसी विश्व-जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती जिसमें ऐक्य और वैचित्र्य संयोजित न हों। इसलिए देश-प्रेम अंतर्राष्ट्रीयता या विश्व-प्रेम का विरोधी न होकर उसका पूरक ही है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए मैं सोचता हूँ कि भारत पर

भावी विश्व-निर्माण का कितना बड़ा उत्तरदायित्व है। और आज की विनाश की ओर अग्रसर विश्व-सभ्यता को अंतःस्पर्शी मनुष्यत्व का अमरत्व प्रदान करने के लिए हमारे मनीषियों, बुद्धिजीवियों तथा लोकनायकों को कितना अधिक प्रबुद्ध, उदार-चेता तथा आत्म-संयुक्त बनने की आवश्यकता है।

हमारी गौतम और गांधी की ऐतिहासिक भूमि है। भारत का दान विश्व को राजनीतिक तंत्र या वैज्ञानिक यंत्र का दान नहीं हो सकता; वह संस्कृति तथा विकसित मनोयंत्र की ही भेंट होगी। इस युग के महापुरुष गांधी जी भी अहिंसा को एक व्यापक सांस्कृतिक प्रतीक के ही रूप में दे गए हैं, जिसे हम मानव चेतना का नवनीत, अथवा विश्व-मानवता का एकमात्र सार कह सकते हैं। महात्माजी अपने व्यक्तित्व से राजनीति के संघर्ष कंटक-पुलकित कलेवर को संस्कृति का लिवास पहनाकर भारतीय बना गए हैं। उनका दान हम भुला भी दें, किन्तु संसार नहीं भुला सकेगा; क्योंकि अणु-मृत मानव-जाति के पास अहिंसा ही एकमात्र जीवन-अवलम्ब तथा संजीवन है।

सत्य-अहिंसा के सिद्धांतों को मैं अंतःसंगठन (संस्कृति) के दो अनिवार्य उपादान मानता हूँ। अहिंसा मानवीय सत्य का ही सक्रिय गुण है। अहिंसात्मक होना व्यापक अर्थ में संस्कृत होना, मानव बनना है। सत्य का दृष्टिकोण मान्यताओं का दृष्टिकोण है, और ये मान्यताएँ दो प्रकार की हैं। एक ऊर्ध्व अथवा आध्यात्मिक, और दूसरी समदिक्, जो हमारे नैतिक, सामाजिक आदर्शों के रूप में विकास-क्रम में उपलब्ध होती है। ऊर्ध्व मान्यताएँ उस अंतस्थ सूत्र की तरह हैं जो हमारे बहिर्गत आदर्शों को सामंजस्य के हार में पिरो कर हृदय में धारण करने योग्य बना देती हैं।

मैं जानता हूँ कि स्वाधीनता मिलने के बाद हम बुद्धिजीवियों को जिन सृजनात्मक तथा सांस्कृतिक शक्तियों के प्रादुर्भाव होने तथा उनके विकास के लिए प्रशस्त क्षेत्र मिलने की आशा थी, वैसा नहीं हो सका है। गांधीवाद का सांस्कृतिक चरण अभी पंगु तथा निष्क्रिय ही पड़ा हुआ है। किन्तु हम सदियों की अव्यवस्था, दुरवस्था तथा परवशता से अभी अभी मुक्त हुए हैं। हमें अपने को नवीन रूप में पहचानने, नवीन परिस्थितियों में अपना उत्तरदायित्व समझने, और विश्व-क्रांति की गंभीरता को ठीक-ठीक आंकने में अभी समय लगेगा। मैं

चाहता हूं कि पश्चिम के देश, अपने राष्ट्रीय स्वार्थों तथा आर्थिक स्पर्धाओं के कारण, जिस प्रकार अभी तक विश्व-संहार के यंत्रालय बने हुए हैं, भारत एक नवीन मनुष्यत्व के आदर्श में बंध कर, तथा अपने बहिरंतर जीवन को नवीन चेतना के सौन्दर्य में संगठित कर, महासृजन एवं विश्व-निर्माण का एक विराट् कार्यालय बन जाय ; और हमारे साहित्यिक तथा बुद्धिजीवी, अभिजातवर्ग की संकीर्ण नैतिकता तथा निम्न वर्ग की दैन्य-पीड़ा की गाथा गाने में एवं मध्यवर्ग के पाठकों के लिए उसका कृत्रिम चित्रण करने में ही अपनी कला की इतिश्री न समझ लें, प्रत्युत युग-संघर्ष के भीतर से जन्म ले रही नवीन मानवता तथा सांस्कृतिक चेतना के संस्पर्शों एवं सौन्दर्य-बोध को भी अपनी कृतियों में अभिव्यक्ति देकर नवयुग के ज्योतिवाहक बन सकें।

मैं जनता के रागद्वेष, क्रोध तथा असंतोष को भी आदर की दृष्टि से देखता हूं, क्योंकि उसके पीछे मनुष्य का हृदय है; किन्तु युग-संचरण को वर्ग-संचरण में सीमित कर देना उचित नहीं समझता। इस धरती के जीवन को मैं सत्य का क्षेत्र मानता हूं, जो हमारे लिए मानवीय सत्य है । गंभीर दृष्टि से देखने पर ऐसा नहीं जान पड़ता कि यह जीवन अविद्या का ही क्षेत्र है जहां मन तथा आत्मा के संचरण गौण तथा अज्ञान के अधीन हैं। यह केवल तुलनात्मक तथा बाह्य दृष्टिकोण है, जो हमारे ह्रास-युग का सूचक तथा विश्व-असंगठन का द्योतक है। सामाजिक दृष्टि से मैं असंगठन को माया तथा संगठन (जिसमें बहिरंतर दोनों सम्मिलित हैं) को प्रकाश या सत्य कहता हूं।

अतएव इस राजनीति तथा अर्थशास्त्र के युग में मुझे एक स्वस्थ सांस्कृतिक जागरण की आवश्यकता और भी अधिक दिखाई देती है। राजनीति का क्षेत्र मानव-जीवन के सत्य के संपूर्ण स्तरों को नहीं अपनाता, वह हमारे जीवन का धरती पर चलनेवाला समतल चरण है; हमें अपने मन तथा आत्मा के शिखरों की ओर चढ़नेवाले एक ऊर्ध्व संचरण की भी आवश्यकता है, जो हमारे ऊपर के वैभव को धरती की ओर प्रवाहित कर समाज के राजनीतिक आर्थिक ढांचे को शक्ति, सौंदर्य, सामंजस्य तथा स्थायी लोक-कल्याण प्रदान कर सके । अन्यथा पृथ्वी के गहरे पंक में डूबा हुआ मनुष्य का पांव ऊपर उठ कर आगे नहीं बढ़ सकेगा । अणु बम के आगमन के बाद हमारे अग्नि भुज सैनिक, शक्ति-

कामी राजनीतिक, तथा अधिकार-क्षुब्ध लोक-संगठनों का सत्य अपने आप ही जैसे निरस्त्र तथा परास्त हो गया है। मनुष्य को आज एक अहिंसक संस्कृत प्राणी के स्तर पर उठना ही होगा, एवं जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण को बदल कर अपनी शक्ति के लिए नवीन उपयोग (ऊर्ध्व पथ) खोजना होगा। एटम बम ने उसके भीतर के आदिम हिंस्र जीव को जैसे सदैव के लिए निहत कर दिया है; वह बलि की तरह अवचेतन की राह से फिर पाताल प्रवेश करने को उद्यत है।

अपने बहिर्मुख (इंद्रियों के) मन से हम जीवन के जिस पदार्थ में आशा-आकांक्षाओं, सुख दुख, तथा भोग-अधिकार का सत्य देखते हैं एवं राजनीतिक आर्थिक प्रणालियों-द्वारा उसमें सामूहिक संतुलन स्थापित करते हैं उसी जीवन तत्त्व में हम अंतर्मुख (ऊर्ध्व) मन से आनन्द, अमरत्व, प्रकाश आदि के रूप में अपने देवत्व के सत्य का अनुभव करते हैं, जिसका सामूहिक वितरण हम किसी प्रकार के सांस्कृतिक आंदोलन द्वारा ही कर सकते हैं,—विशेषतः जब धार्मिक व्यवस्थाओं तथा संस्थाओं से हमारे युग की आस्था उठ रही है। इस प्रकार के किसी प्रयत्न के बिना हमारा मान्यताओं का ज्ञान अधूरा ही रह जाएगा और हम प्रवृत्तियों के पशु-मन को मनुष्यत्व के सौंदर्य-गौरव से मंडित नहीं कर सकेंगे। राजनीतिक लोकतंत्र जहां हमारे भोग के संचरण की व्यवस्था तथा रक्षा करता है, सांस्कृतिक विश्वद्वार हमारे मनुष्यत्व (आत्मा) का पोषण करेगा।

संस्कृति शब्द का प्रयोग मैं व्यापक ही अर्थ में कर रहा हूं। संस्कृति को मैं मानवीय पदार्थ मानता हूं, जिसमें हमारे जीवन के सूक्ष्म-स्थूल दोनों धरातलों के सत्यों का समावेश तथा हमारे ऊर्ध्व चेतना शिखर का प्रकाश और समदिक् जीवन की मानसिक उपत्यकाओं की छायाएं गुंफित हैं। उसके भीतर अध्यात्म, धर्म, नीति से ले कर सामाजिक रूढ़ि, रीति तथा व्यवहारों का सौन्दर्य भी एक अंतर-सामंजस्य ग्रहण कर लेता है। वह न धर्म तथा अध्यात्म की तरह ऊर्ध्व संचरण है, न राजनीति की तरह समतल; वह इन दोनों का मध्यवर्ती पथ है जिसमें दोनों के पोषक तथा प्राणप्रद तत्त्वों के बहिरंतर का वैभव मानवीय व्यक्तित्व की गरिमा

धारण कर लेता है। अतएव संस्कृति को हमें अपने हृदय की शिराओं में बहने वाला मनुष्यत्व का रुधिर कहना चाहिए, जिसके लिए मैंने अपनी रचनाओं में सगुण, सूक्ष्म संगठन या मनः संगठन तथा लोकोत्तर, देवोत्तर मनुष्यत्व आदि शब्दों का प्रयोग किया है।

संस्कृति, सौन्दर्य-बोध आदि हमारे अंतर्मन के संगठन हैं। संस्कृति को मात्र वर्गवाद की दृष्टि से देखना एवं बाह्य परिस्थितियों पर अवलंबित अतिविधान मानना केवल वाद-ग्रस्त बुद्धि का दुराग्रह है। क्योंकि उसके मूल मन से कहीं गहरे, बाहरी परिस्थितियों के अतिरिक्त, भीतरी सूक्ष्म परिस्थितियों में भी हैं। इस संबंध में अपने 'कला तथा संस्कृति' नामक अभिभाषण का एक अंश यहां उद्धृत करता हूँः—"हम कला का मूल्यांकन सत्य, शिव, सुन्दर के मानों से करते हैं। सत्य, शिव, सुन्दर से तत्वतः हमारा वही अभिप्राय है, जो आज के वस्तुवादी का क्षुधा काम से अथवा अर्थवादी का परिस्थिति, सुविधा, वितरण आदि से है; क्योंकि हम सत्य, शिव, सुन्दर को क्षुधा, काम (जीवन-आकांक्षाओं) ही के भीतर खोजते हैं, जिनसे हम बाह्य परिस्थितियों के जगत् से संबद्ध हैं, और इस दृष्टि से क्षुधा-काम हमारी भीतरी स्थूल परिस्थितियां हुईं। सत्य, शिव, सुन्दर के रूप में हम अपनी इन्हीं बहिरंतर की परिस्थितियों में संतुलन स्थापित करते हैं। आदर्श और वस्तुवादी दृष्टिकोणों में केवल धरातल का भेद है, और ये धरातल आपस में अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। सत्य, शिव, सुन्दर संस्कृति तथा कला का धरातल हैं, क्षुधा-काम प्राकृतिक आवश्यकताओं का। जिस सत्य को हम स्थूल धरातल पर क्षुधा काम कहते हैं, उसी को सूक्ष्म धरातल पर सत्य शिव सुन्दर। एक हमारी सत्ता की बाहरी भूख प्यास है, दूसरी भीतरी। यदि संस्कृति और कला हमारी आवश्यकताओं के सत्य से बिलकुल ही भिन्न तथा विच्छिन्न होतीं, तो उनकी हमारे लिए उपयोगिता ही क्या होती? वे केवल स्वप्न तथा अतिकल्पना-मात्र होतीं। साथ ही यदि हमारी क्षुधा-काम की वृत्तियां संस्कृत होकर सत्य, शिव, सुन्दर के धरातल पर न उठ जातीं, तो वे मानवीय नहीं बन सकतीं। हमारी सामाजिक मान्यताएं इसी मानवीकरण अथवा ऊर्ध्व विकास के सिद्धांत पर अवलंबित हैं और मानव सभ्यता का लक्ष्य अंध-प्रवृत्तियों के पशु जीवन में मानवीय संतुलन स्थापित

करना ही रहा है। अतएव हम इसे अच्छी तरह समझ लें कि ये दोनों धरातल बाहर से भिन्न होने पर भी तत्वतः अभिन्न तथा एक दूसरे के पूरक हैं। .....इसलिए भविष्य में हम जिस मानवता अथवा लोक-संस्कृति का निर्माण करना चाहते हैं उसके लिए हमें बाहर-भीतर दोनों ओर से प्रयत्न करना चाहिए, सूक्ष्म और स्थूल दोनों ही शक्तियों से काम लेना चाहिए। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि स्थूल के संगठन से सूक्ष्म अपने आप संगठित हो जाएगा जैसा कि आज का भौतिक दर्शन या मार्क्सवादी कहता है; अथवा सूक्ष्म में सामंजस्य स्थापित कर लेने से स्थूल में अपने आप संतुलन आ जाएगा, जैसा कि मध्ययुगीन विचारक कहता आया है। ये दोनों दृष्टिकोण अतिवैयक्तिकता तथा अति सामाजिकता के दुराग्रहमात्र हैं।....

"आज के बुद्धिजीवी और साहित्यिक के मन में बहुत बड़ा संघर्ष तथा विरोध देखने को मिलता है। इसका कारण शायद यह है कि वह व्यक्ति और विश्व---अथवा समाज--- के ही रूप में सोचता है, और व्यक्तिगत तथा सामूहिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं के भीतर ही युग-समस्याओं (राजनीतिक अर्थ में) तथा मानव जीवन की समस्याओं (सांस्कृतिक अर्थ में) का समाधान खोजता है; और कभी व्यक्ति से असंतुष्ट होकर समाज की ओर झुकता है, कभी समाज से खिन्न होकर व्यक्ति की ओर। मेरी समझ में इन दोनों किनारों पर उसे अपनी समस्याओं का समाधान नहीं मिलेगा। जो जीवन-मन-चेतना का तथा सूक्ष्म-स्थूल सत्य का प्रवाह व्यक्ति और समाज के तटों से टकराता है, उसे आप समग्र रूप से इस प्रकार नहीं समझ सकेंगे। आपको व्यक्ति और विश्व के साथ ही ईश्वर को भी मानना चाहिए, तब आप उसके व्यक्ति और विश्व-रूपी संचरणों को ठीक-ठीक ग्रहण कर सकेंगे, और जीवन-सौन्दर्य के स्रष्टा की तरह उन्हें प्रभावित कर सकेंगे। जिस अतल, अकूल सत्य के प्रवाह की चर्चा मैंने अभी की है, उसे आप कलाकार तथा सूक्ष्म-जीवी की दृष्टि से संस्कृति के रूप में देखिए। एक राजनीति के क्षेत्र का सिपाही भले ही उसे द्वन्द्व-तर्क से संचालित, आर्थिक प्रणाली से प्रभावित उत्पादन-वितरण के संघर्ष के रूप में देखे, आप उसे मानव जीवन के प्रवाह के रूप में देखिए, उसमें मानव हृदय का स्पंदन सुनिए और उससे मनुष्य को

सांस्कृतिक प्रसव-वेदना का अनुमान लगाइए। आप क्षणभंगुर के अवगुंठन को हटाकर मानव चेतना के शाश्वत मुख के भी दर्शन कीजिए। तब आप वास्तविक अर्थ में जीवन-द्रष्टा तथा सौन्दर्य-स्रष्टा बन सकेंगे। अन्यथा आप व्यक्ति-समाज के बीच, भिन्न-भिन्न वर्गों-गिरोहों के बीच, भिन्न-भिन्न संप्रदायों, शक्ति-लोलुप संगठनों तथा नैतिक दृष्टिकोणों के बीच चलनेवाले संघर्ष के प्रचारक मात्र बन जाएंगे; और अपने स्वभाव, रुचि तथा परिस्थितियों के अनुरूप एक या दूसरे पक्ष का समर्थन कर अपने स्रष्टा के कर्तव्य से च्युत हो जाएंगे।"

मैं यह विद्या-विनम्र होकर नहीं लिख रहा हूँ कि मुझे अपनी किसी भी कृति से संतोष नहीं है। इसका कारण शायद मेरी बाहरी-भीतरी परिस्थितियों के बीच का असामंजस्य है। मैंने परिस्थितियों की चेतना के सत्य को कभी अस्वीकार नहीं किया है, जैसा कि मेरी रचनाओं से प्रकट है। 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्णधूलि' मेरी अस्वस्थता के बाद की रचनाएं हैं, जिनमें मेरी ज्योत्स्ना-काल की चेतना संभवतः अधिक प्रस्फुटित रूप में निखर आई है। 'ग्राम्या' सन्' ४० में प्रकाशित हुई थी। उसके बाद का काल, विशेषकर सन्' ४२ के आंदोलन का समय, जबकि द्वितीय विश्वयुद्ध का चक्र चल रहा था, मेरी मनःस्थिति के लिए अत्यन्त ऊहापोह का युग था।

मेरी कई पिछली मान्यताएं भीतर ही भीतर ध्वस्त हो चुकी थीं और नवीन प्रेरणाएँ उदय हो रही थीं; 'ग्राम्या' की 'सांस्कृतिक मन' आदि कुछ रचनाओं तथा सन्, ४२ के उत्तरार्ध में प्रकाशित मेरी 'लोकायन' की योजना में उन मानसिक हलचलों का थोड़ा-बहुत आभास मिलता है। मेरी अस्वस्थता का कारण एक प्रकार से मेरी मनः क्लांति भी थी। अपनी नवीन अनुभूतियों के लिए, जिन्हें मैं अपनी सृजन-चेतना का स्वप्न-संचरण या काल्पनिक आरोहण समझता था मुझे किसी प्रकार के बौद्धिक तथा आध्यात्मिक अवलम्ब की आवश्यकता थी। इन्हीं दिनों मेरा परिचय श्री अरविन्द के 'भागवत जीवन' (द लाइफ़ डिवाइन) से हो गया। उसके प्रथम खंड को पढ़ते समय मुझे ऐसा लगा, जैसे मेरे अस्पष्ट स्वप्न-चिन्तन को अत्यन्त सुस्पष्ट, सुगठित एवं पूर्ण दर्शन के रूप में रख दिया गया है। अपनी अस्वस्थता के बाद मुझे 'कल्पना' चित्रपट

के संबंध में मद्रास जाना पड़ा और मुझे पांडिचेरी में श्री अरविन्द के दर्शन करने तथा श्री अरविन्द आश्रम के निकट संपर्क में आने का सौभाग्य भी प्राप्त हो सका। इसमें सन्देह नहीं कि श्री अरविन्द के दिव्य जीवन दर्शन, से मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ हूँ। श्री अरविन्द आश्रम के योग युक्त (अंतः संगठित) वातावरण के प्रभाव से, ऊर्ध्व मान्यताओं संबंधी, मेरी अनेक शंकाएँ दूर हुई हैं। 'स्वर्णकिरण' और उसके बाद की रचनाओं में यह प्रभाव, मेरी सीमाओं के भीतर, किसी न किसी रूप में प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर होता है।

जैसा कि मैं 'आधुनिक कवि की भूमिका में निवेदन कर चुका हूँ, मैं अपने युग, विशेषतः देश की, प्रायः सभी महान् विभूतियों से किसी न किसी रूप में प्रभावित हुआ हूँ। 'वीणा-पल्लव' काल में मुझ पर कवीन्द्र रवीन्द्र तथा स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव रहा है, 'युगांत' और बाद की रचनाओं में महात्माजी के व्यक्तित्व तथा मार्क्स के दर्शन का; महात्माजी के देह निधन के बाद की रचनाएँ, जो 'युगपथ' में संगृहीत हैं, उनके प्रति मेरे हृदय की श्रद्धा की परिचायक हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रति भी मेरी दो रचनाएँ 'युगपथ' में प्रकाशित हो रही हैं। किन्तु इन सब में जो एक परिपूर्ण एवं संतुलित अंतर्दृष्टि का अभाव खटकता था, उसकी पूर्ति मुझे श्रीअरविन्द के जीवन दर्शन में मिली; और इस अंतर्दृष्टि को मैं इस विश्व-संक्रांति-काल के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा अमूल्य समझता हूँ। मैंने अपने समकालीन लेखकों तथा विशिष्ट व्यक्तियों पर समय-समय पर स्तुति-गान लिखने में सुख अनुभव किया है। श्री अरविन्द के प्रति मेरी कुछ विनम्र रचनाएँ, भेंट रूप में, 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि' तथा 'युगपथ' में पाठकों को मिलेंगी।

श्री अरविन्द को मैं इस युग की अत्यंत महान् तथा अतुलनीय विभूति मानता हूँ। उनके जीवन-दर्शन से मुझे पूर्ण संतोष प्राप्त हुआ। उनसे अधिक व्यापक, ऊर्ध्व तथा अतलस्पर्शी व्यक्तित्व, जिनके जीवन-दर्शन में अध्यात्म का सूक्ष्म, बुद्धि अग्राह्य सत्य नवीन ऐश्वर्य तथा महिमा से मंडित हो उठा है, मुझे दूसरा कहीं देखने को नहीं मिला। विश्व-कल्याण के लिए मैं श्री अरविन्द की देन को इतिहास की सब से बड़ी देन मानता हूँ। उसके सामने

इस युग के वैज्ञानिकों की अणु शक्ति की देन भी अत्यन्त तुच्छ है। उनके दान के बिना शायद भूत विज्ञान का बड़े से बड़ा दान भी जीवन्मृत मानव जाति के भविष्य के लिए आत्म पराजय तथा अशांति ही का वाहक बन जाता। मैं नहीं कह सकता संसार के मनीषी तथा लोक-नायक श्री अरविन्द की इस विशाल आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि का उपयोग किस प्रकार करेंगे अथवा भगवान् उसके लिए कब क्षेत्र बनाएंगे।

यह मेरे कवि हृदय की विनीत अपर्याप्त श्रद्धांजलि मात्र है। ये थोड़े से शब्द मैं इसलिए लिख रहा हूँ कि हमारे तरुण बुद्धिजीवी श्री अरविन्द के जीवन दर्शन से भारत की आत्मा का परिचय तथा मानव और विश्व के अंतर् विधान का अधिक परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर, लाभान्वित हो सकें। आज़ हम छोटी-छोटी बातों के लिए पश्चिम के विचारकों का मुंह जोहते हैं, उनके वाक्य हमारे लिए ब्रह्मवाक्य बन जाते हैं और हम अपनी इतनी महान् विभूति को पहचान भी नहीं सके हैं, जिनके हिमालय-तुल्य मनः शिखर के सामने इस युग के अन्य विचारक विंध्य की चोटियों के बराबर भी नहीं ठहरते। इसका कारण यही हो सकता है कि हमारी राजनीतिक पराधीनता की बेड़ियां तो किसी प्रकार कट गईं, किन्तु मानसिक दासता की शृंखलाएँ अभी नहीं टूटी हैं।

सहस्रों वर्षों से अध्यात्म-दर्शन की सूक्ष्म-सूक्ष्मतम झंकारों से रहस-मौन निनादित भारत के एकांत मनोगगन में मार्क्स तथा एँगिल्स के विचार-दर्शन की गूंजें बौद्धिकता के शुभ्र अंधकार के भीतर से रेंगनेवाले झींगुरों की रुंधी हुई झनकारों से अधिक स्पंदन नहीं पैदा करतीं। एँगिल्स के शाश्वत सत्य की व्याख्या, जिसके उदाहरण स्वरूप, 'नेपोलियन ५ मई को मरा है', तथा हीगल का 'विचार का निरपेक्ष', जो कण-कण जोड़कर विकसित होता है, अथवा ऐसे इतर सिद्धांतों की दुहाई देकर द्वन्द्व-तर्क तथा भौतिकवाद का महत्त्व दिखाना भारतीय दर्शन के विद्यार्थी के लिए हास्यास्पद दार्शनिक तुतलाहट से अधिक अर्थ-गौरव नहीं रखता। जिस मार्क्स तथा एँगिल्स के उद्धरणों को दुहराते हुए हमारा तरुण बुद्धिजीवी नहीं थकता, उसे अन्य दर्शनों के साथ अपने देश के दर्शन का भी सांगोपांग तुलनात्मक अध्ययन अवश्य करना चाहिए और देखना चाहिए कि ऊंट तथा हिमालय के शिखर में कितना अंतर

और क्या भेद है ।

मार्क्सवाद का आकर्षण उसके खोखले दर्शन-पक्ष में नहीं, उसके वैज्ञानिक (लोकतंत्र के रूप में मूर्त्त) आदर्शवाद में है, जो जन-हित अथवा सर्वहारा का पक्ष है; किन्तु उसे वर्ग-क्रांति का रूप देना अनिवार्य नहीं है। वर्गयुद्ध का पहलू फ़ासिज्म की तरह ही निकट भविष्य में पूंजीवादी तथा साम्राज्यवादी युग की दूसरी प्रतिक्रिया के रूप में विकृत एवं विकीर्ण हो जाएगा।

हीगल के द्वन्द्व-तर्क में बिम्बित पश्चिम के मनोजगत् का अंतर्द्वन्द्व मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में बहिर्द्वन्द्व का रूप धारण कर लेता है। इस दृष्टि से इन युगप्रवर्तकों का मानव-चिन्तन, ऐंगिल्स के अनुसार 'अपनी युग-सीमाओं से बाहर' अवश्य नहीं जा सका है। मार्क्स ने, समस्त पश्चिम के ज्ञान को आत्मसात् कर, सिर के बल खड़े हीगल को पैरों के बल खड़ा नहीं किया; यूरोप का मनोद्वन्द्व ही तब अपने आर्थिक-राजनीतिक चरणों पर खड़ा होकर "युद्धं देहि' कहने को सन्नद्ध हो उठा था; जिसका पूर्वाभास पाकर युग-प्रबुद्ध मार्क्स ने उस पर अपने वर्गयुद्ध के सिद्धांत की रक्त की छाप लगा दी। डारविन ने जहां, पूंजीवाद के अभ्युदय-काल में, अपने 'सरवाइवल ऑफ दि फिटेस्ट' के सिद्धान्त को (जिसकी तुलना में ईसा की सांस्कृतिक चेतना की द्योतक 'ब्लसेड आर द मीक फॉर दे शेल इनहेरिट द अर्थ' आदि सूक्तियां रखी जा सकती हैं) जीव विकास-क्रम पर प्रतिपादित एवं प्रतिष्ठित किया, वहां मार्क्स ने, यंत्र-युग के आर्थिक चक्रों से जर्जर, सर्वहारा का पक्ष लेकर वर्ग-युद्ध के सिद्धान्त को द्वन्द्व-तर्क से परिचालित, ऐतिहासिक विकास-क्रम में, (युग-संकट के समाधान रूप में) हीगल और मार्क्स दोनों ही अपने युग के बहुत बड़े मनस्वी हुए हैं, किन्तु इनकी मनःशक्ति ही इनकी सीमाएं भी बन गईं ।

मैं मार्क्सवादी (आर्थिक दृष्टि से वर्ग-संतुलित) जनतंत्र तथा भारतीय जीवन-दर्शन को विश्व-शान्ति तथा लोक-कल्याण के लिए आदर्श-संयोग मानता हूं, जैसा कि मैं अपनी रचनाओं में भी संकेत कर चुका हूं,—

'अंतर्मुख अद्वैत पड़ा था युग-युग से निस्पृह निष्प्राण

उसे प्रतिष्ठित करने जग में दिया साम्य ने वस्तु विधान!'

'युगवाणी'

'पश्चिम का जीवन-सौष्टव हो विकसित विश्व तंत्र में वितरित,
प्राची के नव आत्मोदय से स्वर्ण द्रवित भू तमस तिरोहित'!'

इत्यादि ।

'स्वर्णकिरण'

ऐसा कहकर मैं स्वामी विवेकानंद के सार-गर्भित कथन, "मैं यूरोप का जीवन-सौष्ठव तथा भारत का जीवन-दर्शन चाहता हूँ" की ही अपने युग के अनुरूप पुनरावृत्ति कर रहा हूँ। मेरी दृष्टि में पृथ्वी पर ऐसी कोई भी सामाजिकता या सभ्यता स्थापित नहीं की जा सकती, जो मात्र समदिक् रहकर वर्गहीन हो सके। क्योंकि ऊर्ध्व-संचरण ही केवल वर्गहीन संचरण हो सकता है, और वर्गहीनता का अर्थ केवल अंतरैक्य पर प्रतिष्ठित समानता ही हो सकता है। अतः मानवता को वर्गहीन बनने के लिए समतल प्रसार गामी के साथ ऊर्ध्व विकास कामी बनना ही पड़ेगा, जो हमारे युग की एकांत आवश्यकता है।

हमारे युग का सब से बड़ा दुर्भाग्य है अंतः संश्लेषण तथा बहिःसंनिधान की कमी। हमारा युग-मानव अभी अपने आध्यात्मिक, मानसिक तथा भौतिक संचय को परस्पर संयोजित नहीं कर पाया है। उसका मन बाह्य विश्लेषण से आक्रांत तथा अंतः संश्लेषण से रिक्त है। इसमें संदेह नहीं कि धीरे-धीरे मानव-चेतना विश्व-क्रांति की बहुमुखी गुरुता से परिचित होकर विश्व सांस्कृतिक संगठन अथवा विश्व सांस्कृतिक-द्वार की ओर अग्रसर हो सकेगी, जिसमें इस युग का समस्त भौतिक मानसिक वैभव संगृहीत एवं समन्वित हो सकेगा। किन्तु किपलिंग के कुछ आधुनिक भारतीय संस्करण (यद्यपि किपलिंग के दृष्टिकोण के बारे में यह केवल लोकमत-मात्र है) भौतिकता (पश्चिम का राजनीतिक आर्थिक जीवन संबंधी संघर्ष तथा वर्गहीन लोकतंत्र) तथा आध्यात्मिकता (पूर्व की अंतर्जीवन संघर्ष-संबंधी अनुभूतियां तथा अंतर्मुख मनोयंत्र) का समन्वय असंभव मानते हैं, जबकि आध्यात्मिकता प्रारंभ से ही 'पद्भ्यां

पृथिवी' घोषित करती आई है।

पूर्व-पश्चिम की सभ्यताओं की जीवन-अनुभूतियों को, जिन्हें ऐतिहासिक विकास के लिए मानव अदृष्ट (भावी) का भौगोलिक वितरण कहना अनुचित न होगा, निकट भविष्य में विश्व-संतुलन तथा बहिरंतर संगठित भू-चेतना एवं भू-मन के रूप में संयोजित होना ही होगा। पश्चिम को पूर्व, विशेषकर भारत, जो अंतर्मन तथा अंतर्जगत् का सिद्ध वैज्ञानिक है,—मानव तथा विश्व के अंतर्विधान में (काल में) अंतर्दृष्टि देगा और पूर्व को पश्चिम जीवन के दिक्प्रसरित बहिर्विधान का वैभव सौष्ठव प्रदान करेगा। आनेवाली सांस्कृतिक चेतना का स्वर्गोन्नत सेतु पूर्व तथा पश्चिम के संयुक्त छोरों पर झूलकर धरती के जीवन एवं विश्व-मन को एक तथा अखंड बना देगा। तब दोनों के, आज की दृष्टि से, विरोधी अस्तित्व नवीन मानव-चेतना के ज्वार में डूब जाएंगे और विश्व-मानवता एक ही सिन्धु की अगणित लहरों की तरह भू-जीवन की आरपार-व्यापी सौन्दर्य-गरिमा वहन कर सकेगी।

आज के संक्रांति-काल में मैं साहित्य-स्रष्टा एवं कवि का यही कर्तव्य समझता हूँ कि वह युग-संघर्ष के भीतर जो नवीन लोक-मानवता जन्म ले रही है, वर्तमान के कोलाहल के बधिर पट से आच्छादित मानव-हृदय के मंच पर जिन विश्व-निर्माण, विश्व-एकीकरण की नवीन सांस्कृतिक शक्तियों का प्रादुर्भाव तथा अंतःक्रीड़ा हो रही है, उन्हें अपनी वाणी द्वारा अभिव्यक्ति देकर जीवन-संगीत में झंकृत कर सके और थोथी बौद्धिकता तथा सैद्धांतिकता के मृगजल-मरु में भटकी हुई अंतःशून्य मनुष्यता का ध्यान उसके चिर उपेक्षित अंतर्जगत् तथा अंतर्जीवन की ओर आकर्षित कर सके; एवं इस युग के वादों की संकीर्ण भित्तियों में बंदी युग-युग से निश्चेष्ट निष्क्रिय मानव-हृदय में, जिसकी प्रत्येक श्वास में घृणा-द्वेष के विष का संचार हो रहा है, उसका स्वाभाविक प्रेम का स्पंदन तथा देवत्व का संगीत जाग्रत कर सके,—विशेष कर जब इस युग में मानव-हृदय इतना क्षुधित, चेतना-शून्य तथा, विकसित न हो सकने के कारण, निर्मम हो गया है कि दो विश्व-युद्धों के हाहाकार के बाद भी आज मनुष्य तीसरे विश्वव्यापी अणु-संहार के लिए उद्यत प्रतीत होता है। कवि की विश्वप्रीति एवं मानव-प्रेम की वंशी को आत्मकुंठा के प्रतीकार

संबंधी, कुछ प्रकृति तथा वियोग-श्रृंगार-विषयक कविताएँ और कुछ प्रार्थना गीत संगृहीत हैं। 'उत्तरा' की भाषा 'स्वर्णकिरण' की भाषा से अधिक सरल है; उसके छंदों में मैंने उपर्युक्त विचारों तथा प्रेरणाओं को वाणी देने का प्रयत्न किया है, जो मेरी भावना के भी अंग हैं। 'धनिक श्रमिक मृत'—आदि प्रयोग मैंने व्यक्तियों या संगठनों के लिए नहीं, युग-प्रतीकों अथवा परिस्थितियों के विभाजनों के लिए ही किए हैं, जो सांस्कृतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक सभी दृष्टियों से वांछनीय है।

अंत में मैं अपने स्नेही पाठकों से निवेदन करूँगा कि वे मेरी रचनाओं को इसी सांस्कृतिक चेतना की अस्पष्ट मर्मर के रूप में ग्रहण करें और 'युग विषाद का भार वहन कर तुम्हें पुकारूँ प्रतिक्षण' जैसी भावनाओं को, 'आओ प्रभु के द्वार!' की तरह, जन-विरोधी न समझ लें। ऐसी पुकारों में व्यक्ति के निजत्व का समावेश अवश्य रहता है, पर ऐसी किसी भी सामाजिकता की कल्पना मैं नहीं कर सकता, जिसमें व्यक्ति के हृदय का स्पंदन रुक जाय और न शायद दूसरे ही करते होंगे।

मैं बाहर के साथ भीतर (हृदय) की क्रांति का भी पक्षपाती हूँ, जैसा कि मैं ऊपर संकेत कर चुका हूँ। आज हम वाल्मीकि तथा व्यास की तरह एक ऐसे युग-शिखर पर खड़े हैं, जिसके निचले स्तरों में धरती के उद्वेलित मन का गर्जन टकरा रहा है और ऊपर स्वर्ग का प्रकाश, अमरों का संगीत तथा भावी का सौंदर्य बरस रहा है। ऐसे विश्व-संघर्ष के युग में सांस्कृतिक संतुलन स्थापित करने के प्रयत्न को मैं जाग्रत् चैतन्य मानव का कर्तव्य समझता हूँ। और यदि वह संभव न हो सका तो क्रांति का परिस्थितियों-द्वारा संगठित सत्य तो भूकंप, बाढ़ तथा महामारी की तरह है ही, उसके अदम्य वेग को कौन रोक सकता है?

'कौन रोक सकता उद्वेग भयंकर,
मर्त्यों की परवशता, मिटते कटमर!'

अतएव मेरी इन रचनाओं में पाठकों को धरा-शिखर के इसी संगीत की अथवा नवीन चेतना के आविर्भाव-संबंधी अनुभव की क्षीण प्रतिध्वनियां मिलेंगी। अपनी स्वल्प कल्पना वाणी-द्वारा जन-युग के इस हाहारव में मैंने मनीषियों तथा साहित्य-प्रेमियों का ध्यान मानव-चेतना के भीतर सृजन

शक्तियों की इन सूक्ष्म क्रीड़ाओं की ओर आकृष्ट करने की चेष्टा की है जिससे हम आज की जाति-पांति वर्गों में विकीर्ण तथा आर्थिक राजनीतिक आंदोलनों से कंपित धरती को उन्नत मनुष्यत्व में बांध कर विश्व-मंदिर या भू स्वर्ग के प्रांगण में समवेत कर सकें। मेरे गीतों का इसके अतिरिक्त और कोई अर्थ नहीं है। वे मनुष्य के अंतर्जगत् तथा भविष्य की अस्पष्ट झांकियां भर हैं और नवीन मानव चेतना के सिन्धु में मेरी वाणी के स्वप्न अवगाहन अथवा स्वप्न निमज्जन-मात्र।

इस भूमिका के रूप में मैंने अपने विचारों को उनके महत्त्व के प्रति किसी प्रकार के मोह के कारण नहीं दिया है,---केवल पाठकों की सुविधा के लिए अपनी इधर की रचनाओं की पृष्ठभूमि का ऐक रेखा-चित्र भर खींच दिया है। अपनी त्रुटियों के लिए मैं उनसे विनम्रतापूर्वक क्षमा याचना करता हूँ। इति।

६ वेली रोड, प्रयाग
१५ जनवरी, ४९

श्रीसुमित्रानंदन पंत

प्रदेशिनी

विषय				पृष्ठ

विषय

चिर विकास प्रिय जन-भू का मग,
भावी धरती स्वप्नों के पग,
गत भू जीवन, युग मन ही रे,
सत्य नहीं, मानव के इति अथ !
विचरो हे, उत्तरा काव्य पथ !

युग विषाद

गरज रहा उर व्यथा भार से
गीत बन रहा रोदन,
आज तुम्हारी करुणा के हित
कातर धरती का मन !

मौन प्रार्थना करता अंतर
मर्म कामना भरती मर्मर,
युग संध्या : जीवन विषाद से
आहत विश्व समीरण !

जलता मन मेघों का सा घर
स्वप्नों की ज्वाला लिपटा कर,
दूर, क्षितिज के पार दीखती
रेख क्षितिज की नूतन !

बढ़ते अगणित चरण निरंतर
दुर्दम आकांक्षा के पग धर,
खुलता बाहर तम कपाट,
भीतर प्रकाश का तोरण !

श्रांत, रक्त से लथपथ जन मन,
नव प्रभात का यह स्वर्णिम क्षण,
युग युग का खँडहर जग करता
अभिनव शोभा धारण!

युग छाया

दारुण मेघ घटा घहराई,
युग संध्या गहराई !
आज धरा प्रांगण पर भीषण
झूल रही परछाई !

तुम विनाश के रथ पर आओ,
गत युग का हत शव ले जाओ,
गीध टूटते, श्वान भूँकते,
रोते शिवा बिदाई !

मनुज रक्त से पंकिल युग पथ,
पूर्ण हुए सब दैत्य मनोरथ,
स्वर्ग रुधिर से अभिषेकित अब
नव युग की अरुणाई !

नाचेगा जब शोणित चेतन,
बदलेगा तब युग निरुद्ध मन,
कट मर जाएंगे युग दानव,
सुर नर होंगे भाई !

ज्ञात मर्त्य की मुझे विवशता,
जन्म ले रही नव मानवता,
स्वप्न द्वार फिर खोल उषा ने
स्वर्ण विभा बरसाई!

युग संघर्ष

गीत क्रांत रे इस युग के कवि का मन,
नृत्य मत्त उसके छंदों का यौवन !
वह हँस हँस कर चीर रहा तम के घन,
मुरली का मधुरव कर भरता गर्जन !

नव्य चेतना से उसका उर ज्योतित,
मानव के अंतर वैभव से विस्मित !
युग विग्रह में उसे दीखती बिम्बित
विगत युगों की रुद्ध चेतना सीमित !

उसका जाग्रत् मन करता दिग् घोषण,
अंतर्मानव का यह युग संघर्षण !
शोषक हैं इस ओर, उधर हैं शोषित,
बाह्य चेतना के प्रतीक जो निश्चित !

धनिकों श्रमिकों का स्वरूप धर बाहर
ह्रास शक्तियां आत्म नाश हित तत्पर;
क्षोभ भरे युग शिखर उभड़ते दुर्धर
टकराता भू ज्वार : क्षुब्ध भव सागर !

नृत्य कर रही क्रांति रक्त लहरों पर
घृणा द्वेष की उठीं आंधियां दुस्तर !
कौन रोक सकता उद्वेग प्रलयकर,
मर्त्यों की परवशता, मिटते कट मर !

महा सृजन की तड़ित टूटती दुःसह
अंधकार भू का विदीर्ण कर दुर्वह !
युग युग की जड़ता कँप उठती थर थर
आज स्वप्न प्रज्वलित चकित रे अंतर !

नव्य चेतना का विरोध करते जन,
यह जडत्व भू मन का अंध पुरातन !
आज मनोजग में जन के भय संशय
द्वेष प्रेम का देता पहिला परिचय !

संभव है, नभ में छाएं करुणा घन
अंतर मन में भर जाए युग क्रंदन,
बरसाए उर भू पर आभा के कण
द्रोही मानव के प्रति विद्रोही बन !

ध्यान मौन आराधक, साधक, गायक,
सोच मग्न रे मनोजगत के नायक,

आंदोलित मानवता के अभिभावक,
विश्व क्रांति यह : आपद् काल भयानक !

... ...

रक्त पूत अब धरा : शांत संघर्षण,
धनिक श्रमिक मृत : तर्कवाद निश्चेतन !
सौम्य शिष्ट मानवता अंतर्लोचन
सृजन-मौन करती धरती पर विचरण !

उज्वल मस्तक पर मुक्ता-से श्रम कण,
शांत धीर मन से करती वह चिन्तन;
भू जीवन निर्माण निरत, नव चेतन
साधारण रे वास वसन, मित भोजन !

विद्युत अणु उसके सन्मुख अब नत फन,
वसुधा पर नव स्वर्ग सृजन के साधन;
आज चेतना का गत वृत्त समापन
नूतन का अभिवादन करता कवि मन !

नव मानव

ओ अग्नि चक्षु, अभिनव मानव !
संपर्कज रे तेरा पावक
चेतना शिखा में उठा धधक,
इसको मन नहीं सकेगा ढँक !

वह ज्वाला जग जीवन दायक,—
स्वप्नों की शोभा से अपलक
मानस भू सुलग रही धक् धक्

ओ नव्य युगागम के अनुभव !
नव ऊषा सा स्वर्णाभ वरण
वह शक्ति उतरती ज्योति चरण,
उर का प्रकाश नव कर वितरण !

नव शोणित से उर्वर भू मन,
शोभा से विस्मित कवि लोचन,
अब धरा चेतना नव चेतन !

ओ अंतर्ज्ञान नयन वैभव !
भू तम का सागर रहा सिहर
जन मन पुलिनों पर बिखर बिखर
अब रश्मि शिखर नाचतीं लहर !

तिरते स्वप्नों के पोत अमर
दवों का स्वर्णिम वैभव हर,
नव मानवीय द्रव्यों से भर !

लो, गूंज रहा अंवर में रव,—
मैं लोक पुरुष, मैं युग मानव,
मैं ही सोया भू पर नीरव
मेरे ही भू रज के अवयव !

अपने प्रकाश से कर उद्‌भव
मैं ही धारण करता हूँ भव,
नव स्वप्नों का रच मनोविभव !

गीत विहग

मैं नव मानवता का संदेश सुनाता,
स्वाधीन देश की गौरव गाथा गाता;
मैं मनः क्षितिज के पार मौन शाश्वत की
प्रज्वलित भूमि का ज्योतिवाह बन आता

युग के खँडहर पर डाल सुनहली छाया
मैं नव प्रभात के नभ में उठ, मुसकाता;
जीवन पतझर में जन मन की डालों पर
मैं नव मधु के ज्वाला पल्लव सुलगाता !

आवेशों से उद्वेलित जन सागर में
नव स्वप्नों के शिखरों का ज्वार उठाता;
जब शिशिर क्रांत, वन-रोदन करता भू-मन,
युग पिक बन प्राणों का पावक बरसाता

मिट्टी के पैरों से भव-क्लांत जनों को
स्वप्नों के चरणों पर चलना सिखलाता;
तापों की छाया से कलुषित अंतर को
उन्मुक्त प्रकृति का शोभा वन दिखाता

जीवन मन के भेदों में सोई मति को
मैं आत्म एकता में अनिमेष जगाता;

तम-पंगु, वहिर्मुख जग में विखरे मन को
मैं अंतर सोपानों पर ऊर्ध्व चढ़ाता!

आदर्शों के मरु जल से दग्ध मृगों को
मैं स्वर्गंगा स्मित अंतर्पथ वतलाता,
जन जन को नव मानवता में जाग्रत कर
मैं मुक्त कंठ जीवन रण शंख वजाता

मैं गीत विहग, निज मर्त्य नीड़ से उड़ कर
चेतना गगन में मन के पर फैलाता,
मैं अपने अंतर का प्रकाश वरसा कर
जीवन के तम को स्वर्णिम कर नहलाता

मैं स्वर्दूतों को बांध मनोभावों में
जन जीवन का नित उनको अंग वनाता,
मैं मानव प्रेमी, नव भू स्वर्ग वसा कर
जन धरणी पर देवों का विभव लुटाता

मैं जन्म मरण के द्वारों से वाहर कर
मानव को उसका अमरासन दे जाता,
मैं दिव्य चेतना का संदेश सुनाता,
स्वाधीन भूमि का नव्य जागरण गाता

जागरण गान

ग्रहण करो फिर असि धारा व्रत,
भारत के नव यौवन,
धरा चेतना में अब फिर से
छिड़ा तुमुल आंदोलन !

यह रण क्षेत्र पुरातन रे चिर नूतन,
यहाँ विकट जड़ चेतन का संघर्षण
युग युग के अधि शृंग ढह रहे,
यह मानस-भू कंपन,
टूट रहे, आदर्श तारकों से,
धँसता भू प्रांगण !

वीर, करो फिर क्षुब्ध मनोदधि मंथन,
मानव का यह कठिन परीक्षा का क्षण,
क्या न करोगे तुम विद्युत्
अग्नि अश्वों पर आरोहण ?
महानाश के प्लावन में
कर देंगे क्षुद्र विसर्जन !

वृद्ध धरा पर छाया धूम भयानक,
धक् धक् करता महा प्रलय का पावक,
विश्व ग्लानि में क्या न करोगे
मनः संगठन भूजन ?
मानवीय क्या नहीं बनाओगे
जन भू का जीवन ?

उठे जूझने विश्व समर में दुर्धर
लोक चेतना के युग शिखर भयंकर,
विश्व सभ्यता रुग्ण : हृदय में
व्याप्त हलाहल भीषण,
अमृत मेघ भारत क्या छिड़केगा
न प्राण संजीवन ?

धीर, करो भूजन हिताय व्रत धारण,
सार्थक हों युग युग के जप तप साधन,
बांधो मानव की बांहों में
जड़ चेतन का जीवन,
मनुज चेतना गढ़े मूल भूतों से
नव मानवपन !

विश्व सृजन का यह विनाश परिचायक,
गर्जन भरता उर में रुद्र बलाहक,
उतर रहा शत तड़ित ज्वलित
निर्झर सा युग परिवर्तन,
आज गहनतम उपचेतन
भुवनों में जगता गुंजन !

उद्बोधन

मानव भारत हो नव भारत,
जन मन धरणी सुंदर,
नवल विश्व हो वह आभा-रत,
सकल मानवों का घर !

जाति पांति देशों में खंडित भू जन,
धर्म नीति के भेदों में बिखरे मन,
नव मनुष्यता में हों मज्जित
जीर्ण युगों के अंतर,
विचरें मुक्त हृदय, अंतः स्मित,
प्रीति युक्त नारी नर !

लोक चेतना ज्वार बढ़ रहा प्रतिक्षण
स्वप्नों के शिखरों पर कर युग नर्तन,
तड़क रहीं हथकड़ियां झनझन
मन के पाश भयंकर,
अग्नि-गर्भ युग-शिखर विकट
फटने को है, छोड़ो डर !

आज समापन युग का वृत्त पुरातन,
भू पर संस्कृति चरण धर रही नूतन;
रँग रँग की आभा-पंखड़ियां
बरसाता झुक अंबर,
खोलो उर के रुद्ध द्वार, जन,
हंसता स्वर्ण युगांतर !

विश्व मनः संगठन हो रहा विकसित,
जन जीवन संचरण ऊर्ध्व, भू विस्तृत,
नव्य चेतना केतु फहरता,
सत रँग द्रवित दिगंतर;
आदर्शों के पोत बढ़ रहे,
पार अतल भव सागर !

स्वर्ग भूमि हो भू पर भारत,
जन मन धरणी सुंदर,
अंतर ऐश्वर्यों से मंडित
मानव हो देवोत्तर !

स्वप्नक्रांत

स्वप्न भार से मेरे कंधे
झुक झुक पड़ते भू पर,
क्लांत भावना के पग डगमग
कंपते उर में निःस्वर!

ज्वाल गर्भ शोणित का बादल
लिपटा धरा शिखर पर उज्वल,
नीचे, छाया की घाटी में
जगता क्रंदन मर्मर!

युग स्वप्नों की सांझ सुनहली,
बिखरी भू पर टूट ज्यों कली,
जन विषाद में डूब मौन
मुरझाती, रज तम में झर!

रोती भू झिल्ली सी झन झन,
सांसे भरता विश्व समीरण,
स्तब्ध हृदय स्पंदन हो उठता,
संशय भय से मंथर!

जब जब घिरता तमस अपरिचित
विश्व शक्तियां होतीं अपहृत,
तुम चिर अपराजित रह लाते
जग में स्वर्ण युगांतर !

आने को अब वह रहस्य क्षण,
तुम नव मानव मन कर धारण
पीस रहे दंष्ट्रा कराल बन
युग युग के कटु अंतर !

जगत घन

जब जब घिरें जगत घन मुझ पर
करूं तुम्हारा चिन्तन,
ढंक जावे जब अंतर्नभ मैं
करूं प्रतीक्षा गोपन !

जब तम की छाया गहरावे,
मानस में संशय लहरावे
युग विषाद का भार वहन कर
तुम्हें पुकारूं प्रतिक्षण !

तुम तम का आवरण उठाओ
करुणा कोमल मुख दिखलाओ,
मेरे भू मन की छाया को
निज उर में कर धारण !

तुम्हें करूं जन मन दुख अर्पण,
आत्म दान दे भरूँ धरा व्रण,
भू विषाद गर्जन से, उर में
बरसें नव चेतन कण !

जो बाहर जीवन संघर्षण,
जो भीतर कटु पीड़ा का क्षण,
वह तुममें संतुलन ग्रहण कर
बने उन्नयन नूतन !

अंतर्व्यथा

ज्योति द्रवित हो, हे घन !

छाया संशय का तम,
तृष्णा भरती गर्जन,
ममता विद्युत् नर्तन
करती उर में प्रतिक्षण !

करुणा धारा में झर
स्नेह अश्रु बरसा कर,
व्यथा भार उर का हर
शांत करो आकुल मन !

तुम अंतर के क्रंदन,
अकथनीय चिर गोपन,
मंद्र स्तनित भर चेतन
करो अनिष्ट निवारण !

घट घट वासी जलधर,
तुमको ज्ञात निरंतर
अंतर का दुख निःस्वर
करता जो नव सर्जन !

उत्तरा

मन से ऊपर उठ कर
विचर ऊर्ध्व शिखरों पर
स्वर्गिक आभा से भर
उतरो बन नव जीवन !
खोलो उर वातायन
आएँ स्वर्ग किरण छन,
भू स्वप्नों का नूतन

उन्मेष

उमड़ रहीं लहरों पर लहरें,
घिरते घन पर घिर घन,
रजत स्वर्ण बालुका पुलिन से
टूट रहे मन के प्रण !

टकराते शत स्वप्न निरंतर
रहस ध्वनित कर आकुल अंतर,
संशय भय के कूलों पर भर
नव प्रतीति का प्लावन !

यह प्राणों की वेला दुर्धर
स्वप्न चूड़ शिखरों में उठ कर
करती मानस गीत तरंगित
भर निःस्वर जय गर्जन !

अभय तुम्हारी जय में अग जग,
खिलते सुमन विजय स्रक् हित रँग,
प्रकृति विकच फूलों से सज अँग
करती प्रिय अभिवादन !

सहज हर्ष से, पुलकित अब मन,
विश्व रूप से विस्मित लोचन,
श्रद्धानत हो जाता मस्तक
पा भव छाया दर्शन !

आगमन

मौन गुंजरण जगता मन में
मर्मर धूप छांह के वन में !

आज भर गया विश्व समीरण
स्वर्ग मधुरिमा से रे नूतन,
दिखलाता जीवन प्रभात मुख
खोल क्षितिज उर का वातायन,—
लोक जागरण के इस क्षण में !

मन के भीतर का मन गाता,
स्वर्ग धरा में नहीं समाता
स्वप्नों का आवेश ज्वार उठ
विश्व सत्य के पुलिन डुबाता,—
लहरा शाश्वत के जीवन में !

आज आ रहीं लहर पर लहर
डूब रहे युग युग के अंतर,
यह अंतर्मन का आंदोलन,
असुर जूझते, जीतते अमर,—
धरा चेतना के प्रांगण में !

कहाँ बढ़ाते भीत जन चरण ?
हुआ समापन बाहर का रण !
स्वर्ग चेतना के शोणित से
लथपथ आज मर्त्य भू का मन,—
मरते जड़, जग नव चेतन में !

मौन सृजन

मौन आज क्यों वीणा के स्वर?

इस नीरवता में तुम गोपन
कौन रच रहे नूतन गायन?
स्तब्ध हृदय कंपन में जगते
आशा भय, संशय जय थर थर!

स्वप्नों से मुँद जाते लोचन,
आकुल रहस प्रभावों से मन,
प्राणों में कैसा आकर्षण
बहता जाने सुख से मंथर

तुम शाश्वत शोभा के मधुवन
शिशिर वसंत जहां रहते क्षण,
आज हृदय के चिर यौवन वन
भरते प्रिय, अंतर्मुख मर्मर

रंगों में गाता कुसुमाकर,
सौरभ में मलयानिल निःस्वर,
नील मौन में गाता अंबर
मधुर तुम्हारा स्पर्श पा अमर!

शोभा में गाते लोचन लय,
प्राण प्रीति के मधु में तन्मय,
रस के बस, उल्लास में अभय
गाता उर भीतर ही भीतर!
मौन आज क्या वीणा के स्वर?

युग विराग

भू की ममता मिटती जाती
मेघों की छाया सी चंचल,
सुख सपने सौरभ-से उड़ते,
झरते उर के रंगों के दल !

पुँछतीं स्मृति पट की रेखाएं
धुलते जाते सुख दुख के क्षण,
चेतना समीरण सी वहती
विखरा ओसों के संचित कण !

वह रही राग में नहीं जलन
कुछ वदल गया उर के भीतर;
खो गया कामना का घनत्व,
रीते घट सा अव जग वाहर !

यह रे विराग की विजन भूमि
मन प्राणों के साधन के स्तर,
तुम खोल स्वप्न का रहस द्वार
जो आते भीतर आज उतर,—

हँस उठता उर का अंधकार
नव जीवन शोभा में दीपित,
भू पुलिन डुबाता स्वर्ग ज्वार,
रहता कुछ भी न अचिर सीमित

फिर प्रीति विचरती धरती पर
झरती पग पग पर सुंदरता,
बंधन वन जाते प्रेम-मुक्ति
देव-प्रिय होती नश्वरता !

मेघों के पर्वत

यह मेघों की चल भूमि घोर
बह रहे जहां उनचास पवन,
तुम बसा सकोगे यहां कभी
क्या मानव का गृह, मनोभवन ?

जन जन का मन करता गर्जन
बरसातीं चितवन विद्युत् कण,
टकराते दुर्दम फेन शिखर
सागर सा उफनाता भू मन !

यह विश्व शक्तियों की क्रीड़ा
गत छायाएं बनतीं चेतन,
जन मन विमूढ़ जिनका वाहक,
बढ़ता जाता युग संघर्षण !

पर्वत पर पर्वत खड़े भीम,
अड़ते तृष्णा, अज्ञान, अहं,
उन्मथित धरा-चेतना सिन्धु
आंदोलित अवचेतन का तम !

मन स्वर्ग-शिखर पर मँडराता
उर में गहराता नव जीवन,
वह अंतर आभा से स्वर्णिम
झरता भू पर, स्वप्नों का घन !

प्रगति

तुम बाधा बंधन में
बढ़ते प्रतिक्षण हो,
काँटों में झूल
खिलाते ज्वाल सुमन हो!

जब हृदय दाह से
कँपती धरती थर थर,
जब प्रलय ज्वार में
पुलिन डुबाता सागर
लहरों के शिखरों पर
करते नर्तन हो!

जग जीवन आज बना
स्वार्थों का प्रांगण,
जीवन की साधें
कर उठतीं वन-रोदन,
अंतर कराहता,—
अब युग परिवर्तन हो!

है ज्ञात, गढ़ रहे हो
तुम मानव नूतन,
सौन्दर्य प्रेम आनंद
क्षेम कर वर्षण,
पतझर में सुलगाते
नव मधु यौवन हो!

मैं देख रहा,—
वह ज्योति मेघ अब
उतरा हृदय शिखर पर,
प्राणों में स्वर्गिक
इंद्र धनुष प्रभ
स्वप्नों का पावक भर!

तुम मन के मन हो
जीवन के जीवन हो,
तुम बाधा बंधन में
बढ़ते प्रतिक्षण हो!

प्रतिक्रिया

तुम खोलो जीवन वंधन,
जन मन वंधन !

जीर्ण नीति अव रक्त चूसती जन का,
सदाचार शोषक मन के निर्धन का,
स्वार्थी पशु
मुख पहने मानवपन का,—
तुम छेड़ो अव अंतर रण,
मन हो प्रांगण !

लहराए प्राणों का सागर
रीति नीति के पुलिन डुवा कर,
घुमड़े वाष्पों से उर अंवर
जीवन भू को कर उर्वर;—
तुम कड़को भर युग गर्जन,
झरें अनल कण !

घृणा, घृणा, वह करती मन में नर्तन,
घृणा, घृणा, हँसती आनन पर प्रतिक्षण;
तुम मनुज प्रीति में उसे करो परिवर्तन,—
फिर हरो धरा का प्राक्तन
भू हो चेतन !

मनोमय

तुम हँसते हँसते घृणा बन गए मन में,
जन मंगल हित हे !

अब काटो जग का अंधकार,
भू के पापों का विषम भार,
मेटो मानव का अहंकार,
चिर संचित तुम्हें समर्पित हे,
युग परिवर्तन में !

तुम तपते तपते द्वेष बन गए मन में,
जन मंगल हित हे !

अब करो जीर्ण से संघर्षण,
फिर हरो धरा मन के बंधन,
युग की जड़ता हो नव चेतन
गति दो नूतन को इच्छित हे,
जग जीवन रण में !

तुम सहते सहते रोष बन गए मन मे
जन मंगल हित हे !

फिर मृत्यु भीत जन हों निर्भय,
मन प्राण ले सकें नव निर्णय,
उर करे नहीं तुम पर संशय,
तुम घट घट वासी परिचित हे,
चिर जन्म मरण में !

फिर प्रेम, बनो तुम न्याय क्षमा मन मन में,
जन मंगल हित हे !

मानव अंतर हो भू विस्तृत
नव मानवता में भव विकसित,
जन मन हो नव चेतना ग्रथित,
जीवन शोभा हो कुसुमित हे
फिर दिशि क्षण में !

तुम देव, बनो चिर दया प्रेम जन जन में,
जग मंगल हित हे !

उद्दीपन

फिर लिपटाओ हे,
ज्वाला ऽ में
जीवन ऽ मन को !

विजली घन में काँप रही थर थर थर,
आँधी वन में टूट रही हर हर हर,
तुम फूट पड़ो नव शोभा के से निर्झर,
मत विलमाओ हे,
पागल ऽ
यौवन के ऽ क्षण को !

मंथर गति से वहती है जो धारा
आज डुवा दे अपना भग्न किनारा,
वने अकूल अतल अनंत पयहारा,
फिर दिखलाओ हे,
इच्छा ऽ का
प्लावन ऽ जन को !

उद्दीपन

अभिलाषा का हो गुरु गर्जन
आशा का प्रलयंकर नर्तन,
बरसें झर आनंद अश्रु कण
खेलें सँग सँग जन्म मरण,—
तुम मुसकाओ हे,
दीपित ऽ कर
जीवन ऽ रण को!

भू वीणा

आज करो फिर भू जीवन की
वीणा को नव झंकृत,
उसकी गोपन आकांक्षाएँ
नाच उठें स्वर मुखरित !

मर्म कथा मूर्छित जो निःस्वर
भाव गीत विस्मृत जो सुंदर,
स्वप्न ध्वनित कर अमर स्पर्श से
उन्हें करो नव जागृत !

युग युग के स्मृति तार साध कर
हृदय हृदय के मिला मौन स्वर,
शोभा शक्ति मधुरिमा में नव
करो विश्व उर स्पंदित !

जन जन की आशा अभिलाषा
जिसे नहीं कह पाती भाषा,
जग जीवन के मूर्त राग में
हो समवेत प्रवाहित !

बरसें नव भू स्वप्नों की झर
प्रीति तरंगित हो उर अंबर
एक गीत हो जन भू जीवन
तुम जिसमें हो वंदित !

परिणय

फिर स्वर्ग बजाए
धरती की वीणा निश्चय,
जो कर्म भग्न उर
तुम पर नहीं करे संशय !

नभ के स्वप्नों से
जगत जलधि हो रहस ज्वलित,
जो अमर प्रीति से
हृदय रहे नित आंदोलित !

ऊषा पावक से
भू के कण हों नव चेतन,
तम का कपाट जो
खोल सके तंद्रिल भू मन !

फिर ऊर्ध्व तरंगित
हो जन धरणी का जीवन,
शाश्वत के मुख का
मानव मन जो हो दर्पण !

परिणय

मर्त्यों पर सुरगण
करें अमरता न्योछावर,
जो व्यक्ति विश्व में
मूर्त बने मानव ईश्वर !

फिर स्वर्ग बजाए
भू की हृत्तंत्री निश्चय,
जो ज्ञान भावना,
बुद्धि हृदय का हो परिणय !

भू प्रांगण

आज वरो धरणी का प्रांगण !
नव प्रभात के स्वर्ण हास्य से
रश्मि गर्भ हों धरा रेणु कण !

छोड़ो निज स्वर्णिम रहस्य शर
धरा वक्ष इच्छा-विदीर्ण कर,
स्वर्ग रुधिर मृन्मांस से बहे
उर में हो चेतना-गहन व्रण !

शोभा से सिंचित हो भूतन,
मनुज प्रीति संव्यथित लोक मन,
स्वप्नों के वैभव से व्याकुल
हँसे अश्रुओं में वसुधानन !

लिपटे भू के जघनों से घन
प्राणों की ज्वाला जन मादन,
नाभि गर्त में घूम भँवर सी
करे मर्म आकाँक्षा नर्तन !

अग्नि गर्भ उर के शिखरों पर
उतरे सुर-आनंद ज्यों निखर,
अंतर्जीवन के वैभव से
मुकुलित हों जगती के दिशि क्षण !

जीवन उत्सव

अरुणोदय नव, लोकोदय नव !
मंगल ध्वनि हर्षित जन मंदिर
गूंज रहा अंबर में मधुरव !
स्वर्णोदय नव, सर्वोदय नव !

रजत झांझ-से बजते तरुदल
स्वर्णिम निर्झर झरते कल कल,
मुखर तुम्हारे पग पायल,
यह भू जीवन शोभा का उत्सव !

स्वप्न ज्वाल धरणी का अंचल
अंधकार उर रहा आज जल,
स्वर्ण द्रवित हो रही चेतना,
विजय दीप्त अव विश्व पराभव !

हरित पीत छायाएँ सुंदर
लोट रहीं धरती की रज पर,
स्वर्णारुण आभाएँ झर झर
लुटा रहीं अंबर का वैभव !

नव इंगुर के खिलते पल्लव
उर में भर स्वप्नों का मार्दव
रक्तोज्वल यौवन प्ररोह में
फूट रहा वसुधा का शैशव !

यह जीवन यात्रा का गायन,
युग संघर्षण निरत पुरातन,
जन युग के कटु हाहारव में
मानव युग का होता उद्भव !

रूपांतर

खोलो हे, मन का अवगुंठन !
युग प्रभात में देख सकूँ मैं
नव मानव का आनन !

छिन्न करो जड़ पाश पुरातन,
भग्न रुद्ध-प्राणों के बंधन,
गत आदर्शों की बाँहों से
मुक्त करो जन जीवन !

आज शिखर चिर उच्च उच्चतर
ज्योति द्रवित ढह रहे धरा पर,
रक्तोज्वल चेतना ज्वार में
नव स्वप्नस्थ दिशा क्षण !

उतर तुम्हारी आभा चेतन
नव मानव मन करती धारण,
भावी की स्वर्णिम छायाएँ
भू पर करतीं विचरण

नव प्रकाश रेखाओं से भर
मनः स्वर्ग नव उठा अब निखर,
अंतर्वैभव से तुम निर्मित
करते नव मानवपन !

भू यौवन

फूलों की चोली में कस दो
आज धरा उर यौवन !
उमड़ें सौरभ उच्छ्‌वासों के
अंबर में सतरँग घन :

प्राणों में जागे मधु गुंजन,
अंतर्नभ में पंचम कूजन,
स्वप्न मंजरित हो शोभा से
युग स्वर्णिम जन प्रांगण !

ज्वाल प्ररोह दिशा हों पुलकित,
रँग रँग की इच्छाएं कुसुमित,
झुकें सफल जग जीवन डालें
रश्मि-ज्वलित पा चुंबन !

मनुज स्पर्श से हो भू चेतन,
देव हर्ष से अंतर्लोचन,
सीमाओं में, भंगुरता में
बने असीम चिरंतन !

भू यौवन

बाँहों में हो प्रीति पल्लवित,
अंतर में रस जलधि तरंगित,
स्मित उरोज शिखरों पर बरसे
स्वर्ग विभा सुर मोहन !

भू जीवन

ना, तुमको भी क्या ढँक लेगी
धरती की वेणी अँधियाली ?
तुम भूके जीवन के तम में
दो गूँथ उषा मुख की लाली !

वह हरी मखमली चोली में
बाँधे मुकुलों के स्वप्न शिखर,
तुम उन पर निज चेतना रश्मि
बरसाओ, वे नव उठें निखर !

फूलों की शय्या पर लेटा
मधु से गुंजित उसका यौवन,
तुम उसके कंपित अधरों पर
धर दो प्रकाश का चिर चुंबन !

कामना लता उसकी बाँहें
कँपतीं पल्लव पुलकित थर थर,
तुम भू रज के परिरंभण में
दो निखिल स्वर्ग का वैभव भर !

उसकी पृथु श्रोणी में सोए
शत ज्वाल गर्भ निश्चल भूधर,
जीवन का छायातप ओढ़े
लेटे जिन पर भूजन सिर धर!

मधुकर कोकिल से कल झंकृत
मंजरित स्वर्ण कांची कटि पर
जन मन के गुंजन कूजन से
रखती रज के तम को उर्वर!

उसके जघनों के पुलिनों में
सोई शत झरनों की मर्मर,
उनमें प्राणों की वेला का
लहरा दो चंद्र ज्वलित सागर!

वह चलती, ज्यों उड़ती नभ पर
जीवन के धर शत चरण मुखर,
लहरी सी, गंध समीरण सी,
पग पग पर शोभा पड़ती झर!

चेतना चाँदनी सी उसकी
तम औ' प्रकाश जिसमें गुंफित,
तुम उसका निर्जन शयन कक्ष
नव स्वप्नों से कर दो दीपित!

वह कहती, तुम उसके प्रकाश
वह जिसकी जीवन प्रिय छाया,
श्री सुषमा, प्रीति मधुरिमामय
हो, देव, तुम्हारी रज काया !

वह प्रणत यौवना चरणों पर
बैठी, उर में प्रिय स्मृति दंशन,
तुम आओ, उसके सँग बैठो,
संगीत बने भू का क्रंदन !

मौन गुंजन

आओ हे, इस मनस विभा में
स्वप्न चरण धर नूतन,
अब न रहस्य रहे अंतर का
वहिर्जगत से गोपन !

आज मिल गया आभा से तम
चेतन ज्योत्स्ना में हँस निरुपम,
आओ, निज शशि मुख से सतरँग
उठा मोह अवगुंठन !

स्वप्नों की कलियों सा कोमल
खोल वक्ष शोभा का उज्वल,
मेरे उर कंपन में अपना
अमर मिलाओ स्पंदन !

मौन हुआ प्राणों का गुंजन,
डूब गए मधु विस्मृति में क्षण,
मन में मर्मस्पृह सौरभ का
खुला रहस वातायन !

यह उर की नीरवता का क्षण,
निष्क्रिय शून्य न जीवन वर्जन,
नव जीवन का स्वप्न हृदय में
करता जो अब धारण !

आओ, दो संगीत में बदल
प्राणों का क्रंदन चिर विह्वल
आओ हे, मन की द्वाभा में
स्वप्न चरण धर नूतन !

काव्य चेतना

तुम रजत वाष्प के अंबर से
बरसाती शुभ्र सुनहली झर,
शोभा की लपटों में लिपटा
मेघों का माया कल्पित घर!

सुर प्रेरित ज्वालाएं कँपती
फहरा आभाएं आभा पर,
शत रोहितप्रभ छायाओं से
भर जाता तड़ित चकित अंतर!

सुषमा की पंखड़ियाँ खुलतीं
फैला रहस्य स्पर्शों के दल,
भावों के मोहित पुलिनों में
छाया प्रकाश बहता प्रतिपल,

सतरंगे शिखरों पर उठ गिर
उड़ता शशि सूरज सा उज्वल,
चेतना ज्वाल सी चंद्र विभा।
चू पड़ती प्राणों में शीतल!

जलते तारों सी टूट रहीं
अब अमर प्रेरणाएं भास्वर,
स्वप्नों की गुंजित कलिकाएं
खिल पड़तीं मानस में निःस्वर!

तुम रहस द्वार से मुझे कहां
गीते, ले जाती हो गोपन,
शोभा में जाता हृदय डूब
पा स्पर्श तुम्हारा सुर-चेतन!

सम्मोहन

स्वप्नों की शोभा बरस रही
रिम झिम झिम अंबर से गोपन
शत धूप छाँह सुर धनु के रँग
जमते अंतर पट पर प्रतिक्षण!

तुम स्वर्ग चांदनी सी नीरव
चेतनामयी आती भू पर,
प्राणों का सागर चंद्र ज्वाल
लहराता इच्छा में नूतन!

जीवन की हरियाली हँसती,
कँपती छाया पर छायाएं,
रँग रँग की आभाएं बखेर
सजती आशा नव सम्मोहन!

ुख दुख में भर नव स्वर संगति
ल्पना सृष्टि रचती अभिनव,
वि उर स्वप्नों के वैभव से
करता जन भू का अभिवादन!

हृदय चेतना

तुम चंद्र ज्वाल सी सुलग रही
जीवन लहरों में चिर चंचल,
स्वर्गिक स्पर्शों से अंतः स्मित
कँप कँप उठता चल मानस जल !

तुम स्वप्न द्वार पट हटा रहस
लिपटाती शोभा में दिशि पल
निज स्वर्ण मांस का वक्ष खोल
सुषमा के मुकुलों का कोमल !

तुम मौन शिखर से बरसाती
लावण्य प्रीति उल्लास नवल
मिट्टी के तंद्रिल रोओं में
प्राणों का पावक भर विह्वल !

अब मंथित विश्व विरोधों में
जन जीवन वारिध क्षुब्ध विकल,
तुम चूम घृणा अधरों का विष
तम का मुख करती स्वर्णोज्वल !

निर्माण काल

लो, आज झरोखों से उड़ कर
फिर देव दूत आते भीतर,
सुरधनुओं के स्मित पंख खोल
नव स्वप्न उतरते जन भू पर!

रंग रंग के छाया जलदों सी
आभा पंखड़ियां पड़तीं झर,
फिर मनो लहरियों पर तिरतीं
बिम्बित सुर अप्सरियां निःस्वर!

यह रे भू का निर्माण काल
हँसता नव जीवन अरुणोदय,
ले रही जन्म नव मानवता
अब खर्व मनुजता होती क्षय!

धू-धू कर जलता जीर्ण जगत
लिपटा ज्वाला में जन अंतर,
तम के पर्वत पर टूट रही
विद्युत् प्रपात सी ज्योति प्रखर!

संघर्षण पर कटु संघर्षण
यह दैविक भौतिक भू कंपन
उद्वेलित जन मन का समुद्र,
युग रक्त जिह्व करता नर्तन!

ढह रहे अंध विश्वास शृंग
युग बदल रहा, यह ब्रह्म अहन्!
फिर शिखर चिरंतन रहे निखर
यह विश्व संचरण रे नूतन!

बज रहे घंटियों-से तरुदल
छबि ज्वाल पल्लवित जग जीवन,
नव ज्योति चरण धर रहा सृजन
फिर पुष्प वृष्टि करते सुरगण!

अब स्वर्ण द्रवित रे अंतर्नभ
झरते नीरव शोभा निर्झर,
अवतरित हो रहीं सूक्ष्म शक्ति
फिर मौन गुंजरित उर अंबर

बँधता प्रकाश तम-बांहों में
सुर मानव तन करते धारण,
फिर लोक चेतना रंग भूमि,
भू स्वर्ग कर रहे परिरंभण!

अनुभूति

तुम आती हो,
नव अंगों का
शाश्वत मधु विभव लुटाती हो!

बजते निःस्वर नूपुर छम छम,
साँसों में थमता स्पंदन क्रम,
तुम आती हो,
अंतस्तल में
शोभा ज्वाला लिपटाती हो!

अपलक रह जाते मनोनयन,
कह पाते मर्म कथा न वयन,
तुम आती हो,
तंद्रिल मन में
स्वप्नों के मुकुल खिलाती हो!

अभिमान अश्रु बनता झर झर,
अवसाद मुखर रस का निर्झर,
तुम आती हो,
आनंद शिखर
प्राणों में ज्वार उठाती हो!

उत्तरा

स्वर्णिम प्रकाश में गलता तम,
स्वर्गिक प्रतीति में ढलता भ्रम,
तुम आती हो,
जीवन पथ पर
सौन्दर्य रहस बरसाती हो!

जगता छाया वन में मर्मर,
कँप उठती रुद्ध स्पृहा थर थर,
तुम आती हो,
उर तंत्री में
स्वर मधुर व्यथा भर जाती हो!

आवाहन

तुम स्वर्ण चेतना पावक से
फिर गढ़ो आज जग का जीवन
मधु के फूलों की ज्वाला से
रँग धरणी के उर का यौवन !

आदर्शों का जलता प्रकाश
तुम दो उडेल भू अंचल में,
स्वप्नों की लपटों में लिपटा
मन के अँधियाले को पल में !

जलता तरु के तम में पलाश
जीवन की इच्छा से लोहित,
जग की डाली कर दो शाश्वत
शोभा के शोणित से मुकुलित !

कामना वह्नि से दहक रहा
भू-धर सा भू का वक्षः स्थल,
तुम अमृत प्रीति निर्झर-से फिर
उतरो, हों ताप अखिल शीतल !

ममता विद्युत् सी मचल रही
छाया-वाष्पों का अंतस्तल,
तुम शुभ्र किरण से फूट, उसे
रँग दो स्वर्गिक स्मिति से सतजल!

युग युग के जितने तर्कवाद
मानव ममत्व से वे पीड़ित
तुम आओ, सीमा हों विलीन,
फिर मनुज अहं हो प्रीति द्रवित!

स्वर्ग विभा

कैसी दी स्वर्ग विभा उडेल
तुमने भू-मानस में मोहन,
मैं देख रहा, मिट्टी का तम
ज्वाला बन धधक रहा प्रतिक्षण !

नव स्वप्नों की लपटें उठतीं
शोभा की आभाएं बखेर,
शत रंग की छायाएं कंपती
उपचेतन मन का गहन घेर !

ज्यों उषा प्रज्वलित सागर में
डूबता अस्तमित शशि मंडल...
चेतना क्षितिज पर आभा स्मित
भूगोल उठ रहा स्वर्णोज्वल !

लिपटीं फूलों से रंग ज्वाल,
गूंजते मधुप, गाती कोयल,
हरिताभ हर्ष से भरी धरा,
लहरों के रश्मि ज्वलित अंचल !

भौतिक द्रव्यों की घनता से
चेतना भार लगता दुर्वह,
भू जीवन का आलोक ज्वार
युग मन के पुलिनों को दुःसह!
चेतना पिंड रे भू गोलक
युग युग के मानस से आवृत,
फिर तप्त स्वर्ण सा निखर रहा
वह मानवीय बन, सुर दीपित!

नव पावक

अब नव ऊषा के पावक का
पल्लवित हो रहा भू-जीवन
शोभा की कलियों का वैभव
विस्मित करता मन के लोचन !

मैं रे केवल उन्मन मधुकर
भरता शोभा स्वप्निल गुंजन,
कल आएंगे उर तरुण भृंग
स्वर्णिम मधुकण करने वितरण !

यह स्वर्ण चेतना की ज्वाला
मानव अंतः पुर की गोपन
जो कूद कूद नव संतति में
बढ़ती जाएगी नव चेतन !

वह पूर्ण मानवों का मानव
जो जन में धरता क्रमिक चरण,
वह मर्त्य भूमि को स्वर्ग बना
जन भू को कर लेगा धारण !

अब धरा हृदय-शोणित से रँग
नव युग प्रभात श्री में मज्जित,
अब देव नरों की छाया में
भू पर विचरेंगे अंतःस्मित !

गीत विभव

मैं गाता हूँ,
मैं प्राणों का
स्वर्णिम पावक बरसाता हूँ!

कब टूटेंगे मन के बंधन
रज की तंद्रा होगी चेतन,
कब, प्रेम, कामना की बांहें
खुल, तुम्हें करेंगी आलिंगन!

मैं गाता हूँ,
मैं जन मन को
ज्वाला का पथ बतलाता हूँ!

कब दीपित होगा जीवन तम
कब विस्तृत होगा मनुज अहं,
अंतर के स्वप्न रहस्य-शिखर
भू पर विचरेंगे ऊर्ध्व चरण?

मैं गाता हूँ
मैं स्वप्नों की
स्मित पंखड़ियां बिखराता हूँ!

मैं उतर, देखता चकित नयन
रवि आभा में डूबी धरती,
हरियाली के चल अंचल में
किरणें स्वप्नों के रँग भरतीं !

भू की अतृप्त अंतर ज्वाला
फूलों में विहँस रही सुंदर,
आकांक्षा का आकुल क्रंदन
मधुकर में गूंज रहा मनहर !

वह मिट्टी की शय्या में जग
भरती प्रकाश में अंगड़ाई,
मुकुलित अंगों से फूट रही
उन्मत्त स्वर्ग की तरुणाई !

वह देवों के उपभोग हेतु
मिथ खोल रही निज वक्षः स्थल,
उसके प्राणों का हरित तिमिर
जीवन में निखर रहा उज्वल !

वह मानवीय वन उभर रही
पा स्पर्श निर्जरों का चेतन,
वह बनी शिला से मातृ मूर्त्ति
उर में करुणा का संवेदन !

भू स्वर्ग

आकाश झुक रहा धरती पर
वरसा प्रकाश के उर्वर कण,
धरती उसके उर में बुनती
छाया का सतरंग सम्मोहन!

हो रहा स्वर्ग से धरणी का
जड़ से चेतन का रहस मिलन
भू स्वर्ग एक हो रहे शनैः
सुरगण नरतन करते धारण!

शोभा क्षण

फूलों से लद गए दिशा क्षण
भरता अंबर गुंजन
पुलकों में हँस उठा सहज-मन
निर्जर करते गायन !

अवचेतन में लीन पुरातन,
स्वप्न वृष्टि अब करता नूतन,
तन्मय हुआ अहं युग युग का
बाँहों में बंध चेतन !

यह क्या भावी का संवेदन,
या देवों का मौन निमंत्रण ?
देह प्राण के पुलिन डुबा कर
बहता अंतर यौवन !

धरा शिखर का रे यह मधुवन,
भू मन अहरह करता क्रंदन—
मृन्मय पलकों पर फिर उतरे
यह शाश्वत शोभा क्षण !

शोभा क्षण

आओ हे, यह निभृत प्रीति मग,
धरो ध्वनित पग चिह्नों पर पग,
अश्रुत पद चापों से गुंजित
आज धरणि का प्रांगण !

रजत घंटियां बजतीं छन छन,
स्वर्णिम पायल झंकृत झनझन,
स्वप्न मांस के इन चरणों पर
करो प्राण मन अर्पण !

पद गति से शोभा पड़ती झर,
पग छवि उठती भावों से भर,
सृजन नृत्य रत रे कवि अंतर,
सुन नूपुर ध्वनि गोपन !

युग दान

जीवन-बांहों में बांध सकूं
सौन्दर्य तुम्हारा नित नूतन,
जन_मन में मैं भर सकूं अमर
संगीत तुम्हारा सुर मादन !

आनंद तुम्हारा बरस सके
भव व्यथा क्लांत उर के भीतर,
जग जीवन का बन सके अंग
देवत्व तुम्हारा लोकोत्तर !

करुणा धारा से मानव का
भू निर्मम अंतर हो उर्वर,
संयुक्त कर्म जग जीवन के
तुमको अर्पित हों उठ ऊपर !

अब मनुष्यत्व से मनोमुक्त
देवत्व रहा रे शनैः निखर,
भू मन की गोपन स्पृहा स्वर्ग
फिर विचरण करने को भू पर !

यह अंधकार का घोर प्रहर
  हो रहा हृदय चेतना द्रवित,
फिर मानवीय बन जाग रहीं
  जड़ भूत शक्तियां अभिशापित !

तरुओं के सिर पर पुष्प मुकुट
  ज्यों गंध पवन उर में मादन,
जीवन से मन से फूट रहे
  तुम नव श्री शोभा में चेतन !

जीवन कोंपल

क्या एक रात ही में सहसा
ये हरित, शुभ्र कोंपल फूटे ?
क्या एक प्रात में स्वप्न निद्र
जीवन तरु के बंधन टूटे ?

पत्रों की मर्मर में झंकृत
अब सुर वीणाओं के प्रिय स्वर,
शोभा की अरुण शिखाओं से
प्रज्वलित धरा के दिक् प्रांतर !

यह विश्व क्रांति : मानव उर में
सौन्दर्य ज्वार उठता नूतन,
मन प्राण देह की इच्छाएं
करतीं शिखरों पर आरोहण !

तुम क्या रटते थे, जाति, धर्म,
हां, वर्ग युद्ध, जन आंदोलन,
क्या जपते थे, आदर्श, नीति,—
वे तर्कवाद अब किसे स्मरण !

जीवन कोंपल

गोपन सा कुछ हो रहा आज
जन मन में भीतर परिवर्तन
अंतर्चेतन तारुण्य फूट
गढ़ता अब नव जग का जीवन !

यह मानवीय रे सत्य अखिल,
आधार चेतना, कला कुशल,
वह सृजन प्राण : होती विकसित
जड़ से जीवन मन में अविकल !

वह विस्मृत कड़ी जगत क्रम की
जिससे समृद्धि परिणति संभव,
फिर आने को ऐश्वर्य ज्वार
अब लोक चेतना में अभिनव !

जीवन दान

मैं मुट्ठी भर भर बाँट सकूं
जीवन के स्वर्णिम पावक कण
वह जीवन जिसमें ज्वाला हो
मांसल आकांक्षा हो मादन !

वह जीवन जिसमें शोभा हो,
शोभा सजीव, चंचल, दीपित,
वह जीवन जिसको मर्म प्रीति
रखती हो सुख दुख से मुखरित !

जिसमें अंतर का हो प्रकाश,
जिसमें समवेत हृदय स्पंदन,
मैं उस जीवन को वाणी दूँ
जो नव आदर्शों का दर्पण !

जीवन रहस्यमय, भर देता
जो स्वप्नों से तारापथ मन,
जीवन रक्तोज्वल, करता जो
नित रुधिर शिराओं में गायन !

जीवन दान

इसमें न तनिक संशय मुझको
यह जन-भू जीवन का प्रांगण,
जिसमें प्रकाश की छायाएं
विचरण करतीं क्षण-ध्वनित चरण!

मैं स्वर्गिक शिखरों का वैभव
हूँ लुटा रहा जन-धरणी पर,
जिसमें जग जीवन के प्ररोह
नव मानवता में उठें निखर!

देवों को पहना रहा पुनः
मैं स्वप्न मांस के मर्त्य वसन,
मानव आनन से उठा रहा
अमरत्व ढंके जो अवगुंठन!

स्वप्न वैभव

मैं ही केवल इस धरती पर
धर रहा नहीं स्वप्नों के पग,
मैं देख रहा, छायाओं के
पद चिह्नों से कंपित भू मग !

ये मर्त्यों के पद कभी रहे
देवों के चरण, नहीं संशय
नव स्वप्नों के ज्वाला पग धर
जन कभी चलेंगे हो निर्भय !

मन के वाष्पों का सूक्ष्म जगत
बन रहा स्थूल जीवन का घन,
उसमें घनत्व आ रहा सजल
वह तड़ित गर्भ भरता गर्जन !

लो, अब स्वप्नों का रजत व्योम
हो रहा द्रवित, जीवन झर बन,
वह किरणों का रोहित प्रकाश
वितरण करता उर में चेतन !

स्वप्न वैभव

मानव के अंतर्नभ में घिर
उड़ते नव आभा पंख जलद,
हो रही मनः संगठित आज
फिर विश्व चेतना लोक वरद !

सत्य

तुम वस्तु तमस से ढंक दोगे
आदर्शों का अक्षय प्रकाश ?
✓यांत्रिक पशु वल से रोकोगे
मानव का देवोत्तर विकास ! ✓

तुम क्या घनत्व में वाँधोगे
द्रव की गति प्रियता, चंचलता,
निर्मम जड़त्व में आंकोगे
जीवन की चेतन कोमलता !

तुम हो तुपार की शिला स्वयं,
पल में जल में जाओगे गल,
शीतल प्रकाश ही नहीं सत्य
वह वन सकता है ताप प्रवल !

तुम वंध नियमों के कूलों में
वहते जाओ, इसमें मंगल,
तर्कों के रोड़ों से टकरा
वढ़ते जाओ, क्षण-फेन उगल !

सीमा के पुलिनों से उठ कर
जो उड़ते अंवर में उदार,
वे सूक्ष्म वाष्प क्या पकड़ोगे
जो करते शिखरों पर विहार?

उनके अंतर्नभ में सुलगी
शत रत्नों की ऐश्वर्य ज्वाल,
लिपटे उनसे स्मित ज्वलित पिंड,
रवि शशि किरणों के इंद्रजाल!

वर मिला चेतना का उनको,
जड़ सीमाओं से हो वाहर
वे अव देवों के प्रिय सहचर,
भू मन के मानों से ऊपर!

उनके उर स्पंदन में वजता
स्थिर मंद्र सत्य का गुरु गर्जन,
उनके भीतर से छन झरते
स्वर्गिक प्रकाश के विद्युत् कण!

तुम भाप उन्हें कहते, हँसकर,
वे तुमको मिट्टी का ढेला!
वे उड़ सकते, तुम अड़ सकते,
जीवन तुम दोनों का मेला!

फिर भी यदि जड़ता तुमको प्रिय,
उनको चेतनता;—दुख नितांत,
है सत्य एक,—जो जड़ चेतन,
क्षर अक्षर, परम, अनंत सांत!

युग मन

अब मेघ मुक्त होता युग मन !
अटपट पड़ते कवि छंद चरण,
वहता भावों में शब्द चयन !

जिन आदर्शों में उर सीमित,
जिन अभ्यासों से जन पीड़ित,
जिन स्थितियों से इच्छा कुंठित
उनमें बढ़, निखर रहा नूतन !

जगते मन में नव संवेदन
नव हर्ष कर रहे प्राण वहन,
अज्ञात नव्य का आकर्षण
मज्जित करता जन मन प्रतिक्षण !

अव स्वप्न सत्य वनते निश्चय,
अव तथ्य स्वप्न सा होता लय,
जन हृदय-क्रांति का रे यह क्षण
प्रतिविम्व ,वहिर्जग संघर्षण !

भू होगी उर शोणित रंजित
अरुणोदय होने को निश्चित,
रजनी का क्रंदन डूब रहा
वन युग प्रभात में जय कीर्तन !

यह रे तमिस्र का शेष छोर,
देखो, वह हँसता स्वर्ण भोर,
अंतर्नभ नव चेतना द्रवित,
मानव युग धरता भूति चरण !

छाया सरिता

क्या आकुल अंतर
गाती रहती जो प्रतिक्षण ?
क्या दारुण सुंदर
बनती रहती जो मोहन ?

छाया सरिता सी
बहती रहती हो निःस्वर,
नीरव लहरों में जगा
अतल के संवेदन !

सोया निचले तल में
प्रकाश,—जो केवल तम
भू श्रोणि-देश
प्राणों के जीवन का मादन !

प्रिय स्वर्ण मांस के ऊपर
स्पंदित शुभ्र शिखर
जिन पर स्वप्नों के मुकुलों का
अपलक मधुवन !

सौरभ से उन्मन हो उठता
उर का मधुकर
आनंद प्रीति शोभा रज पी
भरता गुंजन

क्रंदन मर्मर होता जाने
किस नभ म लय,
तुम प्राण, भेजती मौन
जहाँ से आमंत्रण !

संवेदन

छाया सीता सी आ चुपके
 जाने, तुम क्या कहती निःस्वर!
सुन पड़तीं परिचित चरण चाप
 कँप उठता स्वप्न ध्वनित अंतर!

खिल पड़ते उर में ज्योति चिह्न
 नीरव शोभा लाली से भर,
आनंद मधुरिमा से गुंजित
 आभा पंखड़ियों-से झर झर!

अंतर, अदृश्य पा प्रीति स्पर्श,
 खोजता तुम्हें बाहर विस्मित,
युग युग का उर का व्यथा भार
 गा उठता शाश्वत-क्षण पुलकित!

स्मृतियों के स्वर्गिक संवेदन
 लहराते मानस में गोपन
मैं सुन सुन, कर मोहित पग ध्वनि
 बढ़ता जाता निर्दिष्ट चरण!

तुम सूक्ष्म स्वप्न देही बन कर
आती अंतर पथ से प्रतिक्षण
मैं रहस निमंत्रण पा तुमसे
अभिनव जग में करता विचरण !

है ज्ञात मुझे, तुम भू घट से
फिर फूट रही करुणा धारा,
तुम मातृ मूर्ति, चिर मंगलमयि,
शोभा चेतन हो पुनः धरा !

वैदेही

स्वप्नों के मांसल शिखरों में
मैंने निज छिपा लिया आनन,
यह शोभा का प्रिय वक्ष: स्थल
जिसका संगीत हृदय स्पंदन !

चेतना स्वयं ज्यों स्वर्ण गौर
कोमल उर-कलियों में पुंजित,
उल्लास अमर सांसों में वह
रखता इनको आभा दोलित !

इनमें अंतरतम सुषमा के
खिलते नित रत्न प्रभा पल्लव,
नव ऊषा का स्वर्गिक पावक
जलता इच्छाओं में अभिनव !

यह रुद्ध बद्ध लालसा नहीं
जो नारी प्रतिमा में मूर्तित,
यह देवों के उर में बसती
श्रद्धा प्रतीति से अभिषेकित !

जन इसे कला मंदिर में नित
करते अंतर्मन के स्थापित,
शिव सुंदर सत्य चयन कर चिर
प्रिय चरणों पर करते अर्पित !

शत इंगित बनते मुखर नृत्य,
पलकें रुक, छवि करतीं अंकित,
जीवन के सुख दुख इसे देख
स्वर गीतों में होते झंकृत !

प्रीति

मेघों के उड़ते स्तंभ खड़े
लिपटीं जिनसे विद्युत् ज्वाला,
वाहर को अर्ध खुला विराट्
जीवन कपाट तम का काला !

भीतर वाष्पों के कोश मसृण
नव इंद्र जलद लटके कंपित,
जिन पर प्राणों की रंग छटा
करती मन के लोचन विस्मित

चल जलदों के पट के भीतर
दिखते उड़ते तारक अगणित,
निज ज्वलित द्रवों के पंख खोल
क्षण प्रभ मन भृंगों से गुंजित !

आगे अकूल चेतना तीर्थ
नव शरद चांदनी सा प्रहसित,
नीरव रहस्य सुख से सुरभित
स्वप्नों की कलियों का मोहित !

उत्तरा

जाज्वल्यमान रवि लोक वहां
वह दिव्य रश्मियों से मंडित,
अंतर तुषार के शिखरों पर
नीहार ज्ञान का चिर पुंजित !

आनंद धाम शोभित भीतर
झरते अनंत रस के निर्झर,
शोभा के स्वर्णिम फेनों पर
कंपते सुर वीणाओं के स्वर !

उर कंपों, पुलकों से कल्पित
शशि रेख प्रीति प्रासाद सुघर,
झांकते झरोखों से बाहर
अनिमेष सत्य शिव औ' सुंदर !

रहती अंतः पुर में शाश्वत
तुम अवचनीय सुषमा में लय,
होते कृतार्थ, छू चरण परम,
जीवन के सुख दुख, भय संशय !

शरदागम

आज प्राण चिर चंचल !
नवल शरद ऋतु, ओस धुला मुख,
धूप हँसी सी निश्छल !

गौर वक्ष शोभा सी उज्वल
दिन की कोमल आभा मांसल
स्वप्नों की स्मृतियां उकसाती
पुलकित कर अंतस्तल !

खिले अधखिले फूलों के अंग,
मर्म स्पृहा-से खुले मुक्त रंग,
प्राणों को निज स्पर्श ज्वाल से
दीपित करते प्रतिपल

खोल निसर्ग रहा निज अंतर
मधुर संतुलन में खिल सुंदर,
फैलाती कामना प्रकृति की
रंग रंग के चंचल दल !

उतरा

कँपता तरुओं का तम मर्मर,
कँपता मारुत लालस मंथर,
कँपती स्रस्त वस्त्र सी छाया
कँपता नव दूर्वादल !

जी करता शोभातप में मिल
विचरूं छाया वन में झिलमिल,
जाने किस पथ से निसर्ग में
खो, हो जाऊं ओझल !

कौन भेजता मौन निमंत्रण
मुझे निभृत देने हृदयासन,
स्वप्नों के पट में लपेट उर,
तन मन करता शीतल !

आज मिलन को उर अति विह्वल
मानस में स्वप्नों का बादल
झर झर पड़ता, किन स्मृतियों में
सुलगा चिर विरहानल !

तुम आओगी, कहता है मन,
खिलता ही क्यों ऋतु का आंगन ?
निखर मेघ से शरद रेख सी,

शरद् चेतना

तुम फिर स्वप्नों का पट बुनती
ले जीवन से छाया प्रकाश,
फिर गीत स्वरों का जाल गूंथ
उलझाती सुख दुख अश्रु हास !

अब बिखर गया पावस का घन,
ठंढा निदाघ का खर अंगार,
अब हंसती उज्वल धुली धूप
उजियाली में आया निखार !

ऋतु आर्द्र जलद के वस्त्र फेंक
अलसाई अंगों में कोमल,
फिर गूढ़ प्रकृति का मौन स्पर्श
अंतर को छू करता शीतल !

फूलों के रंगों की ज्वाला,
तरु वन का छायातप कंपित,
तुममें भू का कलरव कूजन
सौरभ गुंजन मर्मर गुंफित !

तुम स्वप्नों का नीरव पावक
सुलगाती प्राणों में पुलकित,
तुममें रहस्यमय मौन भरा,
तुम स्निग्ध शांति सी विरह द्रवित !

ज्यों बादल के अंचल से छन
आभा रह जाती क्षण-छाया,
तुम मन के गुंठन से जगती
लिपटा इच्छा, ममता, माया !

तुम मुझे डुबा लो अपने में
या मुझमें जाओ स्वयं डूब,
तुम फूटो मेरा मोह चीर
ज्यों कढ़ती भू को चीर दूब !

जगता लो, तरुण प्ररोह एक
अब फाड़ धरित्री का अंचल,
कंपता अंगों में हरित रुधिर,—
उड़ने को पंख खोल विह्वल !

तुम खोल देह मन के बंधन
चेतना बन गई फिर उज्वल,
उमगा प्राणों का मेघ, लिपट,
निखरी तुम,—अब बादल ओझल !

चंद्रमुखी

उठा इंद्रप्रभ घन अवगुंठन
चंद्रमुखी ऋतु, वारिज लोचनि
सरित पुलिन पर करती विचरण !

शीतल शोभा-पावक का तन,
स्वप्न प्रज्वलित तारापथ मन,
स्वर्ग ज्वार चेतना चंद्रिका,
डूबे रे मोहित जड़ चेतन !

सद्य स्नात, कृश शुभ्र पीत अंग,
कुंद मुकुल स्मिति, गुंजित पट रंग,
सौम्य सलज, चिर प्रकृति अंक में
पली, मोहती मुग्धा जन मन !

चंद्रातप सा मृदु सूर्यातप
तारों-से हिम बिंदु रहे कँप,
स्वप्न चरण धरती वह भू पर
दिवस निशा छवि करता धारण !

उर में छाया-मर्मर कंपन,
सांसों में भू गंध समीरण,
अविकच रंग चपल अंगों से
नव श्री शोभा करती वर्षण !

कहता नभ कुछ नीरव निस्तल
कंपता भू का श्यामल अंचल,
लहराता निर्मल सरसी जल,
पुलकित रे तन, शेफाली वन !

बदल गया कुछ अब उर भीतर
मज्जित ज्योत्स्ना में युग अंतर,
सुलभ हो गया दुर्लभ सा कुछ
मेघ मुक्त नभ, विरह मुक्त मन !

शरद श्री

सौम्य शरद श्री का यह आंगन
जीवन आतप लगता कोमल,
हरियाली के अंचल में बंध
धरती का तम जलता शीतल !

निखर उठा प्राणों का यौवन
फूल मांस के खिले चपल अंग,
नीले पीले लाल पाटली
हंसते आकांक्षाओं के रंग !

मिट्टी की सौंधी सुगंध से
मिली सूक्ष्म सुमनों की सौरभ,
रूप स्पर्श रस शब्द गंध की
हरित धरा पर झुका नील नभ !

क्या समीर ने लिपट, विटप को
किया पल्लवों में रोमांचित ?
अंगड़ाई ले बांह खोलना
सिखलाया डालों को कंपित !

उत्तरा

क्या किरणों ने चूम, खिलाए
रंग भरे फूलों के आनन ?
सृजन प्राण रे स्पर्श प्रेम का
सच है, जीवन करता धारण !

मूल भूत-कामना एक ज्यों
पत्रों में कंप उठती मर्मर,
प्रिय निसर्ग ने अपने जग में
खोल दिया फिर मेरा अंतर !

एक शांति सी, पावनता सी
विचर रही धरती पर निःस्वर,
छायातप में, तृण-अंचल में,
ज्वाल वसन कुसुमों के तन पर !

रंग प्राण रे प्रकृति लोक यह
यहां नहीं दुख दैन्य अमंगल,
यहां खुला चिर शोभा का उर,
यहां कामना का मुख उज्वल !

ममता

अब शरद मेघ सा मेरा मन
हो गया अश्रु झर से निर्मल,
तुम कंपती दामिनि सी भीतर,
शोभातप में लुक-छिप प्रतिपल!

विद्युत् दीपित करती घन को
वह नहीं ज्वाल में उठता जल,
वह उसके अंतर की आभा
तुम मेरी हृदय शिखा उज्वल!

यह प्रीति द्रवित हलका बादल
मेरे ममत्व की छाया-भर,
तुम तड़िल्लता सी खिल पड़ती
जिसमें जीवन की सत्य अमर!

इस विरल जलद पट से छन कर
तुम बरसाती ऐश्वर्य ज्वार,
छाया प्रकाश के पटल खोल
भावों की गहराई निखार!

तुम विद्युत् प्रभ कर पलक पात
करतीं मिथ नीरव संभाषण,
वाष्पों के आवृत मानस में
अंकित कर भेद रहस गोपन !

यह मौन मंद्र गर्जन भरता
युग युग की प्रिय स्मृतियां जगतीं,
शोभा की, स्वप्नों की, रति की,
आशा अभिलाषाएं कंपतीं !

चांदनी चार दिन रहती है,
तुम क्षण भर में होती ओझल,
तुम मुझे चांदनी से प्रिय हो
चपले, मैं ममता का बादल !

फूल ज्वाल

फूलों की ज्वालाएं भरतीं
　　मेरे अंतर में उद्दीपन,
जीवन के शोभा तम के प्रति
　　मेरे मन में चिर आकर्षण !

इस धरती के उर से लिपटे
　　कितने प्रकाश के रंग चपल,
मेरी इच्छाओं से उपमित,
　　किरणों में, प्राणों में ओझल !

मिट्टी के तंद्रिल मानस में
　　जगते उज्वल फूलों के पल,
मैं शोभा स्रष्टा, ज्ञात मुझे
　　ज्वाला का उसका अंतरतल !

ये निःस्वर, सहज मधुरिमा से
　　अंतरतम कर देते झंकृत,
मैं वाणी का सुत, विदित मुझे
　　रमणीय अर्थ व्यंजित, अकथित !

इनमें न भले ही आएं फल
जग का मग सतत धरें कुसुमित,
सौरभ से भर न सकें नभ को,
दृग अपलक कर दें, उर पुलकित !

मैं स्वप्नों का प्रेमी, मुझको
करता न सत्य जग का मोहित,
मैं वह ज्वार सा हुआ पुलिन,
कूलों में बंदी वहे सरित !

मैं फूलों के कुल में जनमा,
फल का हो मूल्य जगत के हित,
उर शोभा का दे अमर दान
मैं झर, चरणों पर हूं अर्पित !

स्मृति

परित्यक्ता वैदेही सी ही
अब हृदय कामना उठी निखर
प्राणों की ममता, अश्रु स्नात,
कृश, शरद शुभ्र लगती सुंदर!

प्रेयसि की मुख छवि मेघ मुक्त
शशि रेखा सी उगती मन में,
नीरव नभ में विद्युत् घन सी
एकाकी स्मृति जगती क्षण में!

ज्योत्स्ना में झंझा से कंपित
हलकी फुहार सी पड़ती झर
वह भीगी स्मृति, मानस तट पर
छाया लहरी सी बिखर बिखर!

सुख दुख की लपटों में लिपटी,
भू के अंगारों पर पग धर,
वह बढ़ती स्वप्नों के पथ पर
शत अग्नि परीक्षाएं दे कर!

अब प्रेमी मन वह नहीं रहा
ध्रुव प्रेम रह गया है केवल,
प्रेयसि स्मृति भी वह नहीं रही
भावना रह गई विरहोज्वल !

बाहर जो कुछ भी हो बदला
मन का पट बदल गया भीतर,
विकसित होती चेतना, उधर
परिणत जग जीवन का संगर !

नमन

नमन तुम्हें करता मन !
हे जग के जीवन के जीवन,
प्रीति-मौन प्रति उर स्पंदन में
स्मरण तुम्हें करता मन !

अश्रु पूत अब मेरा आनन
तुहिन धौत वारिज के लोचन,
यह मानस की वेला पावन
करता तुम्हें समर्पण

तुम अंतर के पथ से आओ,
चिर श्रद्धा के रथ से आओ,
जीवन अरुणोदय संग लाओ
युग प्रभात का नव क्षण !

बहे रुधिर में स्वर्गिक पावक,
स्वप्न पंख लोचन हों अपलक,
रंग दे नव शोभा का जावक
जीवन के पग नूतन !

उत्तरा

आज व्यक्ति के उतरो भीतर,
निखिल विश्व में विचरो बाहर,
कर्म वचन मन जन के उठ कर
बनें युक्त आराधन !

असफल हो जब श्रांत मनोबल,
आवेशों से अंतर विह्वल,
तुम करुणा-कर से छू उज्वल
जड़ता कर दो चेतन !

वंदना

खोलो, अंतरमयि, खोलो
अपना स्वर्गिक वातायन,
निज स्वर्णिम आभा से भर दो
मेरा स्वप्नों का मन!

नींद घनेरी भरी दृगों में
पलकें झंप झंप जातीं
सुख दुख की स्मृतियां मानस में
मां, कंप कंप लहरातीं!

घोर अंधेरी निशा घिरी अब
आओ, शुभ्र उषा बन,
खोलो, मानसि, खोलो अपना
श्रद्धा का वातायन!

दिव्य चेतना का प्रभात नव
बन उर में तेरा मुख,
मौन मधुरिमा से अंतर को
भर दे, डूबें सुख-दुख

उत्तरा

नयनों में स्मित नयन भरो सखि,
उठा किरण अवगुंठन,
मेरे अपलक उर में खोलो
शोभा का वातायन !

मेरे मानस जल में फूटे
उषा ज्योति रक्तोज्वल
फूल मांस के तेरे सुंदर
चरण कमल बन कोमल !

भर जावे सूने अंतर में
नव भावों का गुंजन,
खोलो, आभामयि, खोलो;
निज करुणा का वातायन !

मानव ईश्वर

नव जीवन शोभा के ईश्वर
अमर प्रीति के तुम वर,
स्वर्ण शुभ्र चेतना मुकुल-से
खिलते उर में सुंदर!

शांत अभय हो जाता अंतर
ध्यान तुम्हारा स्नेह मौन धर,
श्रद्धा पावन हो उठता मन
हर्ष प्रणत चरणों पर!

सो जाता ममता का मर्मर
खुलता अंतरतम का अंबर,
दिव्य दूत-से पंख खोल स्मित
स्वप्न उतरते निःस्वर!

अवचनीय आकांक्षा के स्वर
तन्मय करते मुझे निरंतर,
ज्योति शक्ति के नीरव निर्झर
मानस में पड़ते झर!

जगतीं मानव में देवोत्तर
मिट्टी की प्रतिमाएं नश्वरते
युग प्रभात छवि स्नात निखरते ,
भू जनपद पुर प्रांतर !

स्तवन

हेम चूड़ पर स्वर्ण रश्मि प्रभ
ज्योति मुकुट जाज्वल्य शीष पर,
शत सूर्योज्वल कुवलय कोमल
स्फुरत् किरण मंडित मुख सुंदर !

नयन अकूल क्षमा गरिमामय
ज्योति प्रीति के अतल सरोवर,
अधर प्रवालों पर चिर गुंजित
मौन मधुर स्मिति के मुरली स्वर !

सहृदय वक्ष विशाल सिन्धुवत्
विश्व भार भृत अंस धुरंधर,
करुणालंबित बाहु, वरद कर,
मृत्यु कलुष हर चारु धनुष शर !

बढ़ते युग युग चरण, छोड़ निज
अक्षय चिह्न समय के पथ पर,
विश्व हृदय शतदल पर स्थित तुम
हृदयेश्वर, जगदीश, परात्पर !

सृजन नृत्य उल्लास निरत नित
चिर त्रिभंगमय, रहस रतीश्वर,
अभय इंगितों से जीवन की
शाश्वत शोभा पड़ती झर झर!

जय पुरुषोत्तम, प्रणत प्राण मन
नयनों में भर रूप मनोहर,
चिर श्रद्धा विश्वास भक्ति का
मंगलमन्त्र, निज जन को दो वर!

अभिलाषा

एक कली यह मेरे पास !
तुम चाहो, इसको अपनालो,
कर दो इसका पूर्ण विकास !

तुम इसमें स्वर्गिक रंग भर दो,
निज सौरभ में मज्जित कर दो,
उर को अक्षय मधु का वर दो,
अधरों पर धर शाश्वत हास !

तुम्हीं मूल इसके बन जाओ,
मधुकर बन इसके ढिग गाओ,
प्राण वृंत पर इसे भुलाओ,
स्वर्ग किरण बन, करो विलास !

देखे एक तुम्हारा यह मुख,
अपलक ऊपर को हो अभिमुख,
दुख में भी माने असीम सुख,
कांटों में बिखरा उल्लास !

मलयानिल दे भले निमंत्रण,
पंख खोल उड़ना चाहे मन,
तोड़ यह न प्रणय का बंधन,
करे हृदय डाली पर वास !

नयन रहें स्वप्नों से रंजित,
पलकें विरह अश्रु हिम से स्मित,
उर असीम शोभा से विस्मित,
छोड़े जब यह अंतिम सांस !

यह हंसते हंसते झर जावे,
जग में निज सौरभ भर जावे,
भू रज को उर्वर कर जावे
नव बीजों से, हो न विनाश !

एक कली जो मेरे पास,
वह अभिलाष !

विनय

मुझे प्रणति दो
प्रीति समर्पित प्राण कर सकूं,
निज पद रति दो !

विनय मुक्त, जन में मिल जाऊं,
श्रद्धानत, ऊपर उठ पाऊं,
ध्यान मौन, मर्मस्पृह गाऊं,
अंतर्गति दो

मैं मर्त्य वेणु का शून्य बांस
तुम दिव्य सांस,
मैं छिद्र भरा निः स्वर निराश
तुम गीति लास;

मैं शुष्क, सरस कर दो विकास,
मैं रिक्त, पूर्ण कर भर दो
नव आशाऽभिलाष,
स्वर संगति दो !

जब मुंदें कुमुद अंतर्लोचन,
जब जगे पद्म वन स्वप्न-नयन,
तब गीत मुक्त मधुकर सा मन
गा गा जीवन मधु करे चयन,
चिर परिणति दो,
मुझे प्रणति दो !

आह्वान

तुम आओ हे,
मैं धरूं ध्यान
बन निरभिमान
तुम बसो प्राण में, गाऊं मैं!
तुम आओ हे!

अरुणोदय-से हृदय शिखर पर
उतरो नव स्वप्नों के जलधर,
बरसाओ चेतना-मौन स्वर
जीवन पुलिन डुबाऊं मैं!
तुम आओ हे!

स्वर्ण द्रवित अब जीवन का तम,
चमक रहा मन का घन थम थम,
मिटता जाता धरा स्वर्ग भ्रम
यह छवि कहां छिपाऊं मैं!
तुम आओ हे!

रुधिर मदिर हो कंपता थर थर
स्मृति किस सुख में जाती मर मर!
अमर स्पर्श पा कहता अंतर
फिर ज्वाला में न्हाऊं मैं!
तुम आओ हे!

आभा स्पर्श

तुम जीवन के सपने !
मन को लगते आज
विश्वमय, अपने !

कब खुल गए हृदय के बंधन,
अपलक से रह गए विलोचन,
भेद भाव सो गए अचेतन,
पलकें, भर अपार शोभा से,
पातीं तनिक न झंपने !

मिट सी गई क्षितिज की रेखा
भूल गया मन ने जो देखा,
जगी चेतना की शशि लेखा
नव स्वप्नों को सत्य बनाने
लगे प्राण मन तपने !

सिमट गई जीवन तम छाया,
जाग गया मन, सोई काया,
उतर प्रकाश तुम्हारा आया,
मोह भार से मुक्त हृदय में
लगा हर्ष नव कंपने !

परिणति

तुम बसः हृदय में

धरती निज ज्वाला लिपटाती

तन में,—

स्वर्ग किरण आभा बरसाती

मन में,—

मर्त स्वप्नों से रंग रंग जाती

क्षण में,

आज नम्र-निर्भय मैं!

धरा लगाती पग पग बंधन,

स्वर्ग बहाता मुक्ति समीरण,

अमित तुम्हारी दया खिलाती

मलिन पंक में पंकज नूतन,

कहता, क्या विस्मय, मैं!

छूटा अब सुख दुख का क्रंदन

मिटा झूठ सच का संघर्षण,

भले बुरे का हटा नियंत्रण,

प्राण-चेतना के परिणय में!

उत्तरा

धरती की वेदना
कामनाओं की छाया,
स्वर्ग चेतना
मृत्यु भीत स्वप्नों की माया ;

दोनों तुममें पूर्ण हुए अब
तन मन काया,
बाहर भीतर ऊपर नीचे
पात्र तुम्हीं अभिनय में !

जीवन प्रभात

पद रेणु कणों से
धरा गई भर,
स्वर्ण मरंद रहा झर झर
जीवन प्रभात नव आया !

डूबा शोभा में हृदय शिखर,
अब ज्योति लहर जीवन का सर,
नव स्वप्न-रुधिर से सिहर सिहर
प्राणों का सागर लहराया !

वह स्वर्ग श्वास सा सुरभि पवन
सांसों में, पुलकित करता मन,
जड़ धरा हो गई नव चेतन
फूलों में रज तम मुसकाया !

धुल गया कामना का हो मुख
हिम कण सा अश्रु द्रवित अब दुख,
तुम खड़े आज मन के सन्मुख
आंखों में ऐसा मद छाया !

छम छम छम नाच रही आशा,
डिम डिम डिम जगती अभिलाषा
मन सृजन गीत से नृत्य चपल .
खिसकी भू के मन की छाया !

विजय

मैं चिर श्रद्धा ले कर आई
वह साध बनी प्रिय परिचय में,
मैं भक्ति हृदय में भर लाई,
वह प्रीति बनी उर परिणय में!

जिज्ञासा से था आकुल मन
वह मिटी, हुई कब तन्मय में,
विश्वास मांगती थी प्रतिक्षण
आधार पा गई निश्चय में!

प्राणों की तृष्णा हुई लीन
स्वप्नों के गोपन संचय में
संशय भय मोह विषाद हीन
तेरी करुणा में निर्भय मैं!

लज्जा जाने कब बनी मान,
अधिकार मिला कब अनुनय में,
पूजन आराधन बने गान
कैसे, कब? करती विस्मय मैं!

उत्तरा

उर करुणा के हित था कातर
सम्मान पा गई अक्षय में,
पापों अभिशापों की थी घर
वरदान बनी मंगलमय मैं !

बाधा विरोध अनुकूल बने
अंतर्चेतन अरुणोदय में,
पथ शूल विहँस मृदु फूल बने
मैं विजयी प्रिय, तेरी जय में !

अवगाहन

मैं सुंदरता में
स्नान कर सकूं प्रतिक्षण,
वह बने न बंधन !

जिस स्वर्ग विभा का
करता मन आवाहन,
उस रूप शिखा में
जलें न प्राण शलभ बन;

तुम मुझे घेर कर
बरसो, शोभा की घन,
मैं उर शोभा में
स्नान कर सकूं प्रतिक्षण !

तुम प्रीति दान कर सको
बनूं मैं निर्भय,
तुम हृदय दे सको
पूजूं मैं निःसंशय;

मत दो केवल
मधु स्वप्नों का सम्मोहन,
मैं अमर प्रीति में
स्नान कर सकूं प्रतिक्षण !

मानव उर आशाओं से
आकुल चंचल,
प्राणों की अभिलाषाओं का
क्रीड़ा स्थल;

वह हृदय नहीं
जो करे न प्रेमाराधन,
मैं चिर प्रतीति में
स्नान कर सकूं प्रतिक्षण!

जो चातक की हो
साध अगाध चिरंतन,
बरसाएंगे ही करुणा कण
करुणा घन;

भू पर श्रद्धा विश्वास
सुरों के भूषण,
मैं कृतज्ञता में
स्नान कर सकूं प्रतिक्षण!

अवगाहन

व्याकुल रहता मेरा
कवि उर का यौवन
तुम समा सको मुझमें
उर की प्रिय उर वन;

वह क्या श्रद्धा विश्वास
न दे जो जीवन?
मैं नव जीवन में
स्नान कर सकूं प्रतिक्षण!

प्रीति समर्पण

ऊषा आज लजाई!
ओसों के रेशमी जलद से
अधर रेख मुसकाई!

कलियों के वक्षों में कोमल
छुवा रहा मुख मारुत विह्वल,
प्राणों में सहसा उन्मादन
सौरभ रहस समाई!

तुहिन अश्रु स्मित, अपलक लोचन
करते नीरव प्रणय निवेदन
मधुकर ने गुंजित पंखों में
स्वर्णिम रज लिपटाई!

कंपता छायातप का भूतल,
कंपता द्रवित हृदय सरिता जल,
सरसी के अंतर में कंपती
ज्योत्स्ना सी लहराई!

प्रीति समर्पण

यह स्वप्नों की वेला मोहन
देती गोपन मौन निमंत्रण,
निभृत विरह की सी पवित्रता
नव विभात में छाई !

यह कामना रहित रहस्य-क्षण,
केवल निश्छल आत्म समर्पण,
तुम्हें हृदय मंदिर में पाकर
प्रीति मधुर सकुचाई !

प्रतीक्षा

चुंबन दो, मधु चुंबन!
अपलक नव मुकुलों का मधुवन!

बहता स्वप्न पवन मलयानिल
प्राणों को कर लालसा शिथिल,
नम्र अरुण कलियों में खिल खिल
रंग उठना पुलकित तन!

अंग अंग में हृदय उछलना
रोम रोम में प्रणय सिसकना,
तुममें तन्मय होने को उर
करना क्रंदन गायन!

स्वप्न पंख उड़ते सुख के क्षण
प्राणों में भर विधुर गुंजरण,
मौन हृदय पिक करना कूजन
गानों में बहना मन!

अमर प्रतीक्षा में ही सुंदर
जान मुझे, यह मानव अंतर,
विरह भीति बन, व्यथा गीति स्वर
करते तुमको वारण!

अमर्त्य

समझा, क्यों हंस हंस गए बिखर!
जब सौरभ के, रंग के दल झर
कर गए रिक्त मधुमय अंतर,
क्यों फूल, धूल में गए बिखर!

वह कैसी थी स्वर्णिम आशा,
वह कैसी स्वर्गिक अभिलाषा,
कह पाती नहीं जिसे भाषा,
जो तुममें मूर्तित हुई निखर?

दुलराती थी तन मलय पवन,
आशी देती थी स्वर्ग किरण,
धोते थे सस्मित मुख हिमकण,
मधु अधर चूमते थे मधुकर!

अब म्लान मृदुल अंग, मुंदे नयन,
छूटा शोभा का वृंत शयन,
भरते स्नेही न मधुप गुंजन,
लोटा लावण्य निखिल भू पर!

उत्तरा

नभ वैसा ही नीला निर्मल,
धरती भी वैसी ही श्यामल,
प्रिय, केवल तुम्हीं हुए ओझल,
अह, हुआ न विश्व व्यथित पल भर !

सूनी लगती यदि मूक नाल
हंसती वैसी ही मुखर डाल,
दिखते वैसे ही दिशा काल,
भ्रम होता, तुम थे मर्त्य, अमर ?

तुम आए गए, जगत का छल,
तुम हो, तुम होगे, सत्य अटल,
रीता हो भरे धरा अंचल
तुम परे अचिर चिर से,—सुंदर

मुक्ति क्षण

हर सिंगार की वेला हँसती
तुम पर कर शृंगार निछावर!

कंप कंप उठता फूलों का तन,
उड़ उड़ बहता सौरभ का मन
शोभा से भर, अपलक लोचन
पथ में बिछ जाने को तत्पर

एक साथ लद पुलकों का वन
भर जाता सुख स्वप्नों से घन,
करता तुमसे प्रणय निवेदन
कौन समीर कंपाती अंतर!

एक रात, ज्योत्स्ना में गोपन
अंतर शोभा में खिल मोहन,
तारों से कर नीरव भाषण
हंसता वह यौवन कृतार्थ कर!

आता प्रातः मधुर मुक्ति क्षण,
जग को कर उर सौरभ वितरण,
हंस हंस वन श्री आत्म समर्पण
करती प्रिय चरणों पर झर झर

वनश्री

मर्मर करते तरुदल मर्मर,
कल कल झरते निर्मल निर्झर !
कुहू कुहू उठती कोयल ध्वनि,
गुंजन रह रह भरते मधुकर !

निभृत प्रकृति का यह छाया-वन,
फूलों की शय्या रच मोहन
जीवन सोया जहां चिरंतन,
स्वप्न गीत गाते सचराचर !

सोई ज्योति यहां तम में घन,
सोया मन पशु में उपचेतन,
सोई शीतल हरियाली बन
प्राण कामना रज में मंथर !

लो, अब खुला क्षितिज वातायन,
आई वन में स्वर्ण किरण छन,
जगे नीड़ के मुखर विहग गण,
बरस रहे नभ से मंगल स्वर !

वसंत

फिर वसंत की आत्मा आई,
'मिटे प्रतीक्षा के दुर्वह क्षण,
अभिवादन करता भू का मन!

फूलों में मृदु अंग लपेट कर,
किरणों के सौ रंग समेट कर,
गुंजन कूजन से जग को भर

फिर वसंत की आत्मा आई,
हरित शुभ्र स्वर में भर मर्मर,
अरुण पीत लौ में कंप कंप कर!

दीप्त दिशाओं के वातायन,
प्रीति सांस सा मलय समीरण,
चंचल नील, नवल भू यौवन,

फिर वसंत की आत्मा आई,
आम्र मौर में गूंथ स्वर्ण कण,
किंशुक को कर ज्वाल वसन तन!

सिहरी मांसल वन श्री थर थर,
अंगों पर काँपा छायांबर,
सहसा पुष्प शिखर उठे उभर,

फिर वसंत की आत्मा आई,
पल्लव क्षितिज बना परिरंभण,
शोभा करती आत्म समर्पण !

देख चुका मन कितने पतझर,
ग्रीष्म शरद, हिम पावस सुन्दर,
ऋतुओं की ऋतु यह कुसुमाकर,--

फिर वसंत की आत्मा आई
विरह मिलन के खुले प्रीति व्रण,
स्वप्नों से शोभा प्ररोह मन

सब युग, सब ऋतु थीं आयोजन,
तुम आओगी, वे थे साधन,
तुम्हें भूल कटते ही कब क्षण

फिर वसंत की आत्मा आई,
देव, हुआ फिर नवल युगागम,
स्वर्ग धरा का सफल समागम !

रंग मंगल

आज रंगो फिर जन जन का मन !
नवल होलिके, नव शोभा से
रंगो पुनः भारत का यौवन !

नव पल्लव से रंगो दिगंचल,
रंग ज्वाल से फूलों के पल,
रंग भरे लोचन आनन से
रंगो सकल गृह के वातायन !

गूंजे रंग ध्वनित भू गायन,
उमड़ें रंग रंग के सौरभ घन,
नव स्वप्नों की रंग वृष्टि से
रंग जाए धरणी का जीवन !

रंगो प्रीति से घृणा द्वेष रण,
नव प्रतीति से कटुता के क्षण,
जीवन सुंदरता के रंग से
पंकिल हो जन भू का प्रांगण !

सिहरी मांसल वन श्री थर श

अंगों पर काँपा छायांव

सहसा पुष्प शिखर उठे उभ

फिर वसंत की

पल्लव क्षितिज बन

शोभा करती आत

देख चुका मन कितने पतझर,

ग्रीष्म शरद, हिम पावस सुन्दर,

ऋतुओं की ऋतु यह कुसुमाकर,——

फिर वसंत की आत्मा आई

विरह मिलन के खुले प्रीति व्रण

स्वप्नों से शोभा प्ररोह मन

सब युग, सब ऋतु थीं

तुम आओगी, वे थे साध

तुम्हें भूल कटते ही कब

फिर वसंत की अ

देव, हुआ फिर न

स्वर्ग धरा का सफ

रंग मंगल

आज रंगो फिर जन जन का मन !
नवल होलिके, नव शोभा से
        रंगो पुनः भारत का यौवन !

नव पल्लव से रंगो दिगंचल,
रंग ज्वाल से फूलों के पल,
रंग भरे लोचन आनन से
        रंगो सकल गृह के वातायन !

गूंजे रंग ध्वनित भू गायन,
उमड़ें रंग रंग के सौरभ घन,
नव स्वप्नों की रंग वृष्टि से
        रंग जाए धरणी का जीवन !

रंगो प्रीति से घृणा द्वेष रण,
नव प्रतीति से कटुता के क्षण,
जीवन सुंदरता के रंग से
        पंकिल हो जन भू का प्रांगण !